



घटाक्षेप



# पटाक्षेप



मालती जोशी



अपने असंख्य पाठकों के नाम,  
जिनके पत्रों ने मुझे निरंतर  
लिखते रहने की प्रेरणा दी है।

—मालती जोशी



क्रम	
पटाक्षेप	६
प्रतिदान	६८
यानन्दी	७६





## पटाक्षेप

चाय चढ़ाई ही थी कि इन्होंने आकर कहा, "पप्पा, एक कप पानी और, गौतम साहब आए हैं।"

मैंने पलटकर देखा, किचन के दरवाजे पर खड़े थे वह। सारी गीज़, सारी झुल्लाहट चेहरे पर उतर आई थी। मुझे हंसी आ गई। आज अच्छे फर्मे हैं जनाब। बेचारे दफ्तर में लौटकर एक प्याली चाय इत्मीनान से पीना चाहते हैं, गो यह भी नमीब नहीं है।

चाय-नाश्ता ट्रे में लगाकर बाहर ले जाते हुए मैंने छवि के कमरे में झांककर कहा, "छवि, गोद की घोड़ी।"

"जी?" यह उफन्यास में डूबी हुई थी, हड़बड़ाकर उठ बैठी।

"गौतम साहब आए हैं।" मैंने बताया।

उनका नाम सुनते ही उसका माया सलवटो से भर जाता था। पर आज उसने बड़े ही गहज स्वर में कहा, "आप उनके पास थोड़ी देर बैठेंगी दीदी, मैं जरा फोन हो सू।" उसकी आवाज में जरा भी ऊब, जरा भी घीझ नहीं थी। बेचारी उन्हें बर्दाश्त करना सीध गई है, मैंने सोचा।

"और मुनाइए गौतम साहब, क्या हाल-बाल है, इस बार तो बहुत भरसे याद दर्शन दिए।" मैंने मेज पर चाय-नाश्ता लगाते हुए कहा।

किसी विदेगी बैक की घोघ्राघड़ी का बिस्ता मुना रहे थे गौतम। उसे

बीच ही में छोड़कर मेरी ओर मुखातिब हुए। दुआ-सलाम के बाद जो गुरू हुए, तो घर की, दफ्तर की, देश की, विदेश की, पता नहीं कितनी खबरें सुना गए।

यह बैठे-बैठे बोर होते रहे। बड़ी मुश्किल से अपनी उबासी रोकते हुए बोले, “छवि को बुलाओ भाई, इनका कितना टाइम वेस्ट करोगी। ही इज ए बिजी मैन।”

बड़ी मुश्किल से अपनी हंसी रोककर भीतर आई थी मैं और बंद दरवाजे पर दस्तक देते हुए कहा, “छवि, जल्दी करो। तुम्हारे भाई साहब ऑफ हुए जा रहे हैं।”

“वस दीदी, अभी आयी,” उसने कहा और दरवाजा खोल दिया। खुशबू का एक झोंका मुझे सराबोर करता हुआ निकल गया। उसकी घुंघ से उबरकर मैंने देखा—बादामी रंग की नेट नाँयलान साड़ी, मैचिंग ब्लाउज और चूड़ियां, ढीला जूड़ा, जूड़े में गुलाब—छवि तो ऐसे संज-संवरकर खड़ी थी जैसे कहीं पार्टी में जाना हो। उसका सलोना रूप सदा की तरह मेरा हीन बोध जाग्रत् कर गया और मेरा ईर्ष्यालु मन कुनमुनाया, ‘भला गौतम साहब के लिए इतने बनाव-सिगार की क्या जरूरत थी?’

“दीदी, पीयूष सो रहा है, उसे तो देख लेंगी न आप? दूध बनाकर शीशी में भर दिया है मैंने।” उसने अपने लुभावने अन्दाज में कहा और मेरे सारे विकल्प विला गए। फिर से ममतामयी दीदी बन गई मैं और उसे आश्वस्त कर बाहर भेज दिया। सोचा, पहनने-ओढ़ने के यही तो दिन हैं। किसी ज़माने में मैं भी तो दिन में तीन-तीन बार साड़ियां बदलती थी, दर्जनों बार दर्पण में झांककर काजल-बिंदी ठीक कर लिया करती थी। लेकिन अब कोई मुझे देखे—सुन्दर दिखने का कोई उछाह ही नहीं रहा।

और यह सब सोचते हुए पता नहीं कब मैं शीशे के सामने जाकर खड़ी हो गई। अपने टटपूँजिया वालों को किसी तरह समेटकर मैंने जूड़ा बनाया। फिर मुंह-हाथ धोकर कपड़े भी बदल डाले। अपने को संवारने की कोशिश में देर तक शीशे के सामने बैठी रही और वह कम्बख्त चीख-चीखकर कहता

हा, 'छवि बहुत सुंदर है, तुमसे दस गुना, हजार गुना सुंदर है।'

गुरुदत्त सारा उत्साह जैसा निचुड़ गया। मन एक असहाय प्रोध से ध्वनने लगा। मेरा गुस्सा हमेशा की तरह मुशील पर आया, जो छवि को व्याहकर इस घर में लाया है। उसके घर में आते ही मैं एक महत्त्वहीन गणी होकर रह गई हूँ। सड़किया, उनके पिता, पाम-पटोमी—मैं जैसा उमीके छंद-गिंद घूम रहे हैं। शादी के दो साल बाद भी वह नवेली दुल्हन बनी हुई है। गुस्सा सड़कियों पर भी आया, जिन्हें जन्म देने में, पालने में सारा अस्तित्व ही सम्होने होकर रह गया है। गुस्सा इनपर भी...

"वह नला आदमी तो जमकर बंठ गया है। मुझे जरा बाहर जाना था।" यह कब कमरे में आ गए थे, पता ही नहीं चला था।

"जाने में आपको कौन रोक रहा है?" मैंने कसैली आवाज में कहा।

"बुरा तो नहीं लगेगा?"

"बुरा लगने की तो कोई बात ही नहीं है। वह कोई आपके लिए थोड़े ही आए हैं।"

"पचा, आई डिस्लाइकदिम टोन," (मुझे यह सहजा पसन्द नहीं है।) उन्होंने जरा मद्धी में कहा। मैंने कोई जवाब नहीं दिया, मुह फेंकाए बैठी रही।

"कुछ साना तो नहीं है बाजार से?" उन्होंने खूटी से कोट उतारते हुए पूछा। मैंने फिर भी कोई उत्तर नहीं दिया। यह चुपचाप बाहर निकल गए। कुछ देर बाद डाइंग रूम में इनका स्वर गुनाई दिया, "थच्छा गीतम, सी यू अगेन," और फिर सीढ़ियां उतरने की आवाज आई—फिर स्कूटर स्टार्ट करने की। सारी आवाजें कानों में समेटती हुई मैं चुपचाप वहां बैठी रही, सिमी फाननू गामान की तरह।

पोपूय अगर झूने में कुनमुनासा नहीं तो मैं पता नहीं कितनी देर वहां बैठी रहती। उसकी आवाज आते ही मैं करीब-करीब दौड़कर छवि के कमरे में पहुंची। मैंतान आजकल झूने में कूदने की कोशिश करने लगा है।

अब भी मसहरी से मुंह निकालकर इधर-उधर देख रहा था। मुझे देखते ही किलक पड़ा और हुमसकर मेरी गोद में आ गया। उसे कलेजे से भींच-कर बड़ी देर तक अपना दुलार बरसाती रही, वह भी प्रसन्न भाव से मेरे अत्याचार सहता रहा।

लेकिन सिर्फ प्यार से तो उसका पेट भरने वाला नहीं था। उसने फौरन ही दूध के लिए मचलना प्रारंभ कर दिया। उसे पलंग पर लिटाकर मैंने शीशी उसके मुंह में दे दी। और फिर उसके बाजू में लेट गई। मन इतना तृप्त था जैसे पीयूष शीशी का नहीं, मेरा ही दूध पी रहा है। यह नन्हा-सा प्राणी आते ही घर-भर का, मुहल्ले का एक खिलौना बन गया है। लेकिन मेरी तो जैसे इसने जिदगी ही बदल दी है। मन करता है, बस चौबीस घंटे उसे कलेजे से लगाए रहूं और पूछूं—मेरे लाला, मेरे छौने, तू इतने दिनों तक कहां छिपकर बैठ गया था।

दूध पिलाकर मैंने उसे तैयार किया। जैसे कोई शरवत धीरे-धीरे सिप किया जाता है। मैं उसे इत्मीनान से तैयार करती रही। आखिर उसके धैर्य का बांध टूट गया और वह सड़क की ओर हाथ फेंकने लगा, तब मुझे अपना तामझाम समेटना ही पड़ा।

“छवि, इसे थोड़ा घुमा लाऊं मैं। दोनों देवियां तो पता नहीं कहां गायब हो गई हैं।” मैंने ड्राइंग रूम में आकर कहा और नीचे उतर आई।

“पप्पू को घुमाने ले जा रही हैं मिसेज कुमार?” मैंने पीछे मुड़कर देखा, मिसेज चंद्रा थैलियों से लदी-फंदी हांफती हुई चली आ रही थीं।

“इसकी मम्मी नहीं आई?” बुरी तरह हांफ रही थीं, पर बोले बिना उन्हें चैन कहां।

“मम्मी पढ़ रही है।” मैंने संक्षिप्त-सा उत्तर दिया।

“अब की तो मास्टरजी बहुत दिनों बाद आए।” उन्होंने साथ-साथ चलते हुए दूसरा प्रश्न दाग दिया।

“मास्टर जी कौन? ओह, आप शायद गौतम साहब के लिए कह रही

हैं। इनके दोस्त के छोटे भाई हैं। वह भी किमी नाइट कॉलेज में सोगॉलॉजी में एम० ए० कर रहे हैं। कहीं से अच्छे नोट्स या किताबें मिल जाती हैं, तो दे जाते हैं।" मैंने सम्बन्धी-बोझी सफाई दी और फिर लगा, इसकी कोई उम्मीद नहीं थी।

"यही तो मैं लड़कियों से कह रही थी। मास्टर तो अपने समय से आता है, समय में जाता है। वह इतनी-इतनी देर बैठता भी नहीं है, इतने-इतने दिन गोन भी नहीं करता। और उसे छोड़ने सारा घर दरवाजे पर नहीं आता है।"

मैं तो स्तब्ध रह गई। मिस्रज चट्टा की नजर से कोई भी बात छूटती नहीं है। सोम-बाग उन्हें कॉलोनी का 'चौकीदार' कहते हैं। ठीक ही कहते हैं।

मैंने फिर अकारण सफाई देते हुए कहा, "इतना लेट एडमीशन हुआ है समझा, इसलिए जहा से भी हैल्थ मिलती है, से लेते हैं। अक्टूबर में तो हमने बर्निज ज्वाइन किया है। हमने तो यही सोच लिया था कि उसी बहाने घर से तो निकलेगी। चार हमदर्द लोगों के साथ हंसेंगी-बोलेंगी तो हमका मन लग जाएगा। आपने देखा तो था, कैसी हो गई थी। दिन-भर कमरे में घुमी रहती थी। न किमीमें हमना, न बोलना। न ढग में पहनना-न ओढ़ना।"

"देवर कब लौट रहे हैं आपके?" अगला प्रश्न तैयार हो या।

"अभी तो माल-भर घासी है। तीन माल के लिए गए हैं न।" उत्तर देते-देते अब मैं ही हांक चली थी। मार्केट आ गया तब वहीं जाकर मुझे गहल भिनी। उन्हें दुकानदारों में दलजता छोड़कर मैंने मार्केट का एक राउंड लिया, कुछ टॉफियां घरीदीं और लौट पड़ी। नीटते हुए उनके नाथ बाने का माहम मुझमें नहीं था।

लौटते हुए पड़ोस की दो-तीन लड़कियां मिल गई थीं और मैंने राहून की मांम नी। उन लोगों में पीयूष को नेने के लिए होड़-भी मच गई और मुझे हाथ मीघा करने का मौका मिल गया। मोटे-ताजे वच्चे देखने में तो

अच्छे लगते हैं, लेकिन उठाना पड़े तो भगवान याद आ जाते हैं ।

पीयूष अपनी भवतमंडली में प्रसन्न था और फरमाइशी प्रोग्राम पेश कर रहा था । शुभा-विभा ने, छवि ने उसे कई करतब सिखा रखे हैं । लड़कियां मुग्ध हुई जा रही थीं । तेरह-चौदह साल की लड़कियां थीं वे, उन्हें मुग्ध होने के लिए कुछ भी काफी होता है । 'हाय, कित्ता स्वीट है, न ! हाय, कित्ता इंटेलीजेंट !' से होते हुए बात उसकी मम्मी पर उतर आई । घर पहुंचने तक छवि 'कित्ती स्वीट, कित्ती स्मार्ट, कित्ती ग्रेसफुल' चगैरह विशेषण पा चुकी थी ।

अपने घर की ओर मुड़ते हुए जब पीयूष को लिया, तो कितना भारी लगा मुझे वह ! किसी तरह सीढ़ियां चढ़कर मैं ऊपर आई । गैलरी में आकर पता लगा, कविता की जो पंक्तियां हवा में तैरकर मेरे कानों से टकराती रही थीं, उनका उद्गम-स्थान हमारा ड्राइंग रूम ही था । मुझे लगा, शायद छवि रेडियो खोलकर बैठ गई है । ड्राइंग रूम में आकर देखा, कवि महोदय सशरीर ड्राइंग रूम में विराजमान हैं । और उनकी एकमात्र श्रोता बड़ी तमन्यता से रसास्वादन कर रही है ।

मैंने ईश्वर को धन्यवाद दिया कि लौटते हुए मिसेज चन्द्रा मेरे साथ नहीं थीं ।

कमरे के वातावरण को गद्यमय बनाते हुए मैंने कहा, "छवि, अपने लाडले को देखो ज़रा, मुझे किचन में जाने दो, दोनों देवियां लौट आएंगी तो मुझे ही खा जाएंगी ।"

कवि और श्रोता दोनों जैसे समाधि से जाग पड़े । भावाभिभूत होकर छवि ने कहा, "कितनी अच्छी कविता लिखते हैं गीतम साहव !"

"लिखता था," कवि ने करेक्शन स्लिप प्रस्तुत की, "कॉलेज के दिनों में बहुत कुछ लिखा था ।"

"उस ज़माने में तो सभी कवि होते हैं । यह नोन, तेल, लकड़ी का चक्कर चलने के बाद भी जिनकी प्रतिभा शेष रह जाती है, वे ही सच्चे कवि होते हैं," और इस यथार्थवादी घोषणा के साथ मैंने मंच से प्रस्थान

कर दिया।

कविगोष्ठी फिर नहीं जम सकी। क्योंकि कुछ ही देर बाद स्कूटर स्टार्ट होने की आवाज आई। कुछ ही पल बाद छवि किचन में थी। उसकी आंखों में कविताओं की पंक्तियाँ अब भी तैर रही थीं। उसी भावविह्वल स्वर में बोली, “आपको पता है दीदी, गौतम साहव की लव मैरिज है। साथ ही पढ़ने थे वे दोनों। सारी कविताएँ मिसंज गौतम के लिए ही लिखी गई हैं।”

“छवि! प्लीज जरा साड़ी बदलकर आ जाओ तो चटनी पीस दो। मुझे तो ये बाकी का काम निपटाते ही आठ बज जाएंगे।” कविता-कानन में विवरण करने वाले उसके मन की मीठी निर्भयता से सिल पर पटकते हुए बहा। उसका चेहरा बुद्ध-सा गया और मुझे अपने-आपपर गुस्सा आने लगा।

आफ़त की मारो शुभा उसी समय मेरे सामने आ खड़ी हुई, “मम्मी, भूख लगी है।”

“भूख तो लगी होगी ही, तभी तो घर की याद आई है,” मैंने उसे मिन्नताते हुए कहा, “घड़ी देखी है? यह समय है घर लौटने का?”

“वे लोग बच से आ गई हैं,” छवि ने मिमिकाकर कहा, लेकिन तब तक शुभा की पीठ पर दो घूसे पड़ चुके थे और वह सिसकती हुई चली गई थी।

गैस की नीली लपटों को शून्य दृष्टि से देखती हुई मैं देर तक गुमगुम रही रह गई थी।





मेरा अंतर्मन जानता है कि इन प्रश्नों के उत्तर मेरे लिए महत्त्व नहीं रखते, अपनी नरकमनेम को छिपाने का एक साधन-मात्र हैं ये ।

“कैसी लगती है अब वह ?” मैंने अधीर होकर पूछा ।

“अरे घूब फँल गई हैं, गर्दन तो नखर ही नहीं आ रही ।”

“मच ?” और मेरा मन उल्लास से भर गया । मिसेज कश्यप अब उतनी सुन्दर नहीं रही, यह जानना कितना सुखद था ! एक जमाना था जब मिसेज कश्यप ही नहीं, उनका ड्राइंग रूम, उनके अचार, उनके स्वेटर्म्स, उनके बच्चे, सभी बातें चर्चा का, प्रशंसा का विषय थीं । कम से कम अब एक प्वाइंट तो उनका कम हुआ ।

“सच कह रहे हैं ? बहुत मोटी हो गई हैं—मुझसे भी ज्यादा ?” मैंने आश्चर्य होने के लिए पुनः पूछा ।

“तुम्हें मोटी किसने कह दिया ? यू आर ऐज स्लिम ऐण्ड ऐज फ्रेन्डल ऐज एवर ।”

“अब रहने भी दीजिए,” मैंने किमो नवोढा की तरह इनकार दे दिया ।

“मच कह रहा हूँ भाई ! कोई मेरे दिल से पूछे तब तौरे-नीनक्य बां ।”

और मुझे अपनी बांहों में समेटकर उन्होंने बेहस्तिब आँक कर दिया ।

उनकी बांहों का तमिया लिए हुए मैं देर तक तृप्त भाव में भेटी रही । निमैड कश्यप का नाम लेते ही शकाओ का एक नूतन-नया उठा था, वह अब शांत हो गया था । मुझ की उस बरमावस्था में मन बड़ा तरल हो आता था । मुझे छवि की याद हो आई, मैं यहाँ प्रिय की बांहों में मुँह में भेटी हूँ और वह बेचारी ..

होले से मैं विस्तर से उठ आई, वह उसी तरह प्रगाढ़ निद्रा में निमग्न लेटे रहे। खिड़की का पर्दा सरकाकर मैंने देखा—बगल वाले कमरे की बत्ती का चौकोर प्रतिबिम्ब सड़क पर पड़ रहा था, जिसका अर्थ था, छवि अभी जाग रही है। मन करुणार्द्र हो उठा, क्या सुख देखा है बेचारी ने शादी का ! दो महीने लगकर भी तो अपने कलकत्ता वाले घर में रही नहीं। कभी मेरे पास, कभी मां के पास तीज-त्यौहारों के चक्कर में घूमती रही। तब यह पता थोड़े ही था कि सुशील को छह महीने के अन्दर ही विदेश चला जाना होगा। इतने वरिष्ठ लोगों के होते हुए कम्पनी उसे ही जर्मनी में ट्रेनिंग के लिए भेजेगी, खुद उसे भी इसकी आशा कहां थी !

पर इस चांस के मिलते ही दोनों घरों में खुशी की लहर दौड़ गई थी। फॉरेन रिटर्न होने का एक ऐसा शौक सवार था सवपर कि छवि की राय लेना भी जरूरी नहीं समझा गया। उसे चौथा महीना चल रहा था। एक साल तो इसी चक्कर में बीत जाता फिर जहां उसका मन होता, रह लेती।

मइके ससुरे सवहि सुख,

जवहि जहां मनुमान।

और इसी तरह उसके दिन कट भी रहे थे। पीयूष पांच-छह महीने का था तभी उसकी पीहर से चिट्ठी आई—“दीदी, मेरा यहां ज़रा भी मन नहीं

सग रहा, मुझे बुना सोजिए ।”

दूगरे ही दिन वह आगरा जाकर निवा साए थे । दानी दुपनी हो गई थी वह ! मैंने प्यार से उमकी बर्नया सेने हुए कहा था, “अरे, माँ के राज में यह हाथ हो गया है तेरा, फिर मुझे तो सू पन्द्रह दिन में बदनाम कर देनी।”

“दरअगल दीदी, बहुत बोर हो गई मैं यहाँ।” उमने कहा, “पर मे सब्जे पाम अपना-अपना पाम है। गहेमियां अपनी पड़ाई में मल है, जिनकी मादी हो गई है, उन्हें अपनी गृहस्थी में पुगंत नहीं है। छोटी भाभी अपनी नोकरी में व्यस्त है, बड़ी भाभी का बच्चों में ही दिन बीत जाता है। एक मैं ही फासलू नजर आ रही थी यहाँ।” और वह खूबी हनी हग दी। उमकी मारी व्यथा उम हगी में छनक गई थी।

तब मैंने ही ज़िद की थी, उम कोनेज भेजने की। मुनीन उमे मेरे पाम छोड़ गया था। वह भी मा-बाप के यहाँ मे मेरे पाम अपनी इच्छा से आ गई थी। हम विस्वाग को, हम स्नेह को मैं हाटनाना नहीं चाहती थी। बाँव्र जाने लगी थी, तब मे उसके चेहरे पर काफी रौनक आ गई थी। फिर भी कभी-कभी वह इतनी निरीह लगती कि दया हो आती।

हौले से मैं विस्तर से उठ आई, वह उसी तरह प्रगाढ़ निद्रा में निमग्न  
 टे रहे। खिड़की का पर्दा सरकाकर मैंने देखा—बगल वाले कमरे की बत्ती  
 ग चौकोर प्रतिविम्ब सड़क पर पड़ रहा था, जिसका अर्थ था, छवि अभी जाग  
 रही है। मन करुणार्द्र हो उठा, क्या सुख देखा है बेचारी ने शादी का ! दो  
 महीने लगकर भी तो अपने कलकत्ता वाले घर में रही नहीं। कभी मेरे पास,  
 कभी मां के पास तीज-त्यौहारों के चक्कर में घूमती रही। तब यह पता  
 थोड़े ही था कि सुशील को छह महीने के अन्दर ही विदेश चला जाना होगा।  
 इतने वरिष्ठ लोगों के होते हुए कम्पनी उसे ही जर्मनी में ट्रेनिंग के लिए  
 भेजेगी, खुद उसे भी इसकी आशा कहां थी !

पर इस चांस के मिलते ही दोनों घरों में खुशी की लहर दौड़ गई थी।  
 फॉरेन रिटर्न होने का एक ऐसा शौक सवार था सवपर कि छवि की राय  
 लेना भी जरूरी नहीं समझा गया। उसे चौथा महीना चल रहा था। एक  
 साल तो इसी चक्कर में बीत जाता फिर जहां उसका मन होता, रह लेती।  
 मइके ससुरे सबहि सुख,

जवहि जहां मनुमान।

और इसी तरह उसके दिन कट भी रहे थे। पीयूष पांच-छह महीने का  
 था तभी उसकी पीहर से चिट्ठी आई—“दीदी, मेरा यहां ज़रा भी मन नहीं

सग रहा, मुझे बुना सीजिए ।”

दूगरे ही दिन वह आगरा जाकर मिया माए धे । इननी दुखनी हो गई थी यह ! मैंने प्यार से उगधी बर्तिया मैंने हुन कहा था, “अरे, मां के राज में यह हान हो गया है तेरा, फिर मुझे तो गू पन्द्रह दिन में बदनाम कर देगी।”

“दरअसल दीदी, बहुत धोर हो गई मैं यहाँ।” उमने कहा, “पर मे सबै पाग अपना-अपना पाग है। गहेनिया अपनी पढ़ाई में मस्त है, जिनकी शादी हो गई है, उन्हे अपनी गृहस्थी में पुर्गल नहीं है। छोटी भाभी अपनी नौकरी में व्यस्त है, बड़ी भाभी का बच्चों में ही दिन बीत जाता है। एक मैं ही फालतू नजर आ रही थी यहाँ।” ओर यह गूधी हंगी हंग दी। उमकी मारी ब्यसा उम हुगी मे छत्रक गई थी।

तब मैंने ही खिद की थी, उगे बॉनेज भेजने की। गुनील उगे मेरे पाग छोड़ गया था। वह भी मां-बाप के यहाँ मे मेरे पाग अपनी इच्छा से आ गई थी। इस विस्मय को, इस स्नेह को मैं झुटनाना नहीं चाहती थी। बॉनेज जाने लगी थी, तब मे उमके धेदूरे पर बापी रोनक आ गई थी। फिर भी सभी-सभी वह इननी निरीह मगती कि दया हो आती।

शाम की बात याद करके मन कैसा तो हो गया ! बरामदे में आकर गीने धीरे से उसके कमरे का दरवाजा ठेला । वह खुला ही था । एक पलंग पर शुभा, विभा एक-दूसरे के गले में बाँधें डालकर सो रही थीं । दूसरे पलंग पर लेटी छवि कुछ पढ़ रही थी । गीने दूर से ही पहचान लिया, वह गीतम की डायरी थी ।

“दीदी, आप !” वह चौंककर उठ बैठी ।

“सोई नहीं रे अभी तक, बारह बज रहे हैं ।”

“बाप रे, मुझे तो पता ही नहीं चला । बैठिए न ।” मेरे लिए जगह बनाते हुए उसने कहा ।

“इतनी अच्छी कविताएं हैं क्या ? जरा देखूं ।”

डायरी खोलकर देखा, पहले ही पृष्ठ पर बड़े-बड़े अक्षरों में लिखा था—‘हेमा के गुसुम फोगल करों में प्रणय का यह पुष्प सस्नेह समर्पित ।’ कविताएं कुछ खास नहीं थीं । उम्र के उस दौर में सभी लोग कविताएं लिखते हैं । जो नहीं लिख पाते वे पढ़ते हैं, बीस-इक्कीस वर्ष की भावुक उम्र थी, तभी तो छवि बारह बजे रात तक उन फटीचर कविताओं का रसग्रहण करती रही थी ।

“बड़ी किस्मतवाली हैं मिसेज गीतम, जिनके लिए इतने प्यारे गीत लिखे

गए हैं।" मैंने बाँधी को उलट-गलट करने हुए कहा।

"हां दीदी, लेकिन अब ये पहने वाली मिनेड गौतम कहा रह गई है।"

"कैसे रहेंगी मन्ना ! तीन-तीन बच्चों को जन्म देने के बाद औरत क्या बही रह जाती है ! और ये तो शायद मर्विन ने भी है क्यों। छवि ! मुंदर दिग्गज के लिए भी सुविधा चाहिए।"

"दीदी, मैं मुंदरता को बात नहीं कर रही थी। मेरा मतलब है अब उनमें पहने की-सी अंडरस्टैंडिंग नहीं है। बहुत बदम गई है वह।"

"और यह बात तुम्हें मि० गौतम ने बतलाई है ! छिः, इस तरह भी कोई अपने पर की बात हर कहीं कहता फिरता है।" मैंने कहा।

"हर सिगोमे तो नहीं कहता, पर जहां थोड़ी-बहुत महानुभूति मिलती है वहां तो बात जुवान पर आ ही जाती है।"

महानुभूति ! मैंने छवि को ध्यान से देखा। इसे गौतम से महानुभूति क्या से हो गई ? अभी कल तक तो उन्हें 'गोद की बीबी' और 'मिस्टर मरेम' जैसे उपनाम देती रही है वह, उनकी ऐमी-गैमी नकल उगारती थी कि बच्चे हमने-हमने सोटपोट हो जाते, बल्कि मुझे ही डांटना पड़ता था।

हाथरी के पल्ले पकड़ते हुए मैं अंतिम पृष्ठ तक आ पहुंची थी। रचना शायद ताजा हो थी, क्योंकि अक्षर और स्याही दोनों ही बढने-बढने-से थे, और मजमून भी :

सहरा-ए-इन्दगी में ठही बजार-सी तुम  
उजड़े हुए चमन में फलने-बहार-मी तुम।  
तुम कोन हो, कहां से आकर बरग गई हो,  
जलते हुए ज़िगर पर भीनी पृहार-सी तुम।

उर्दू कविता का मेरा ज्ञान बहुत मामूली-सा है, पर इतना समझ में आ गया कि इसी कविता के लिए छवि को काँरी दी गई है। पता नहीं, उसकी निगाह उगार पड़ी भी है या नहीं। मन हुआ थुपके में यह पेज फाड़ लूं। लेकिन कागज तो कागज है, दोबारा भी लिखा जा सकता है।



रात-भर करवटें बदलती रही मैं । गौतम की कविताएं जैसी भी थीं, मेरे अतीत को कुरेद गई थीं, स्मृति-पटल पर अपने लिखे कई गीत नाच उठे थे । उन गीतों में क्या नहीं था—प्यार का सागर, आंसुओं की नदी, लगन की डोर, सपनों का झूला, आशा की डगर, कामना का नगर—किशोर कल्पनाओं का सम्पूर्ण संसार उन कविताओं में था ।

स्वांतःसुखाय ही थी वह काव्य साधना । मां का आतंक था ही इतना जबरदस्त । फिर भी पता नहीं कैसे एक दिन मेरी कॉपी उनके हाथ पड़ गई थी; और मेरे देखते-देखते मेरे गीत अग्नि की भेंट चढ़ गए थे । उस आग में सिर्फ कविताएं ही नहीं जली थीं, मन की अमराई भी झुलस गई थी । वसंत कितने ही दिनों तक वहां आने से कतराता रहा था ।

मां की आग्नेय दृष्टि से इतनी सहम गई थी मैं कि उस दिन रो भी नहीं पाई थी । आज वही रुलाई अपने समस्त आवेग के साथ फूट पड़ी थी । दुनिया में ऐसी लड़कियां भी हैं, जिनपर कविताएं लिखी जाती हैं, और मुझ जैसी भाग्यहीना भी है, जिसकी कोमल कल्पनाओं का निर्ममता से गला घोंट दिया गया था । पता नहीं दुनिया का हर अन्याय मेरे ही हिस्से में क्यों आता है ? इतनी इच्छा हुई कि एक बार फिर उसी उम्र में लौट जाऊं और जी खोलकर अपने गीत, अपनी कविताएं गाऊं, फिर से पुकारूं अपने जाने-

अनजाने प्रियतम को ।

अगले दो-चार दिनों में मेरे पास बग यही काम था । जब भी समय मिलता, कॉपी लेकर बैठ जाती और कविताओं की भूलो-बित्तरी पंक्तियाँ जोड़-तोड़कर निग्यती रहती । आश्चर्य तो इस बात पर हुआ कि दो-चार गीत पूरे के पूरे याद आ गए । शायद अंतर्मन की किसी अंधेरी गुहा में दुबक-कर बैठे हुए ये गीत बाहर आने की राह जोड़ रहे थे ।

अगली बार जब गीतम आए, तो मुझे अपनी कॉपी की याद हो आई । तीव्र इच्छा हुई कि उन्हें बना दू कि चाय-नाश्ते के परे भी मेरा कुछ अस्तित्व है । छवि की कॉपियाँ और पुरतकों की उपेक्षा करते हुए मैं जमकर बहा बैठ गई । अपने काव्यपाठ की प्रस्तावना भी करने हुए मैंने कहा, “आपकी कविताएँ हमने पढ़ी थीं, गीतम साहब । मध, बहुत ही भावपूर्ण रचनाएँ हैं ।”

वे ‘हैं हे’ करके हँस दिए । शायद उन्हें आने वाले सफ़ट की कल्पना न थी ।

“कुछ गीत हमने भी लिखे हैं । मुनेगे आप ?” और उनकी सम्मति की परवाह किए बिना मैं अपनी कॉपी उठा लाई और तरन्नुम में मुनाने लगी ।

अपनी ऊँच और ग्रीस को किसी तरह दवाने हुए गीतम कविताएँ मुनते रहे । दाद देने रहे और घड़ी देखते रहे । दूसरा गीत समाप्त कर मैंने उनकी राय जानने के लिए गिर उठाया, तो देखा वह गटे हो गए हैं ।

“कविताओं में ऐसा खो गया भाभीजी, कि याद ही नहीं रहा—रात एक जगह दिनर पर भी जाना है ।” उन्होंने क्षमायाचना के स्वर में कहा, अपना थ्रीपकेस उठाया और सीढ़ियाँ उतर गए ।

छवि पता नहीं मच उठकर भीतर चली गई थी । स्कूटर की आवाज गूँजते ही दोड़ी आई, “यह क्या, गीतम साहब चले गए ? आज इतनी जल्दी ?”

“जाने कैसे नहीं !” मैंने मृदुली हमी हँसते हुए कहा, “संसार में ऐसा

वि हुआ है आज तक जो चुपचाप बैठा दूसरों की कविताएं सुनता रहे !  
चारे दस मिनट में ही मैदान छोड़कर भाग गए ।”

अपने इस विनोद पर मैं खुद ही हंसती रही, छवि ने साथ नहीं दिया ।

“मैं चाय बना रही थी ।” उसने अस्फुट स्वर में कहा ।

“तो बना लो न ! तुम्हारे भाई साहब आते ही होंगे । मेरे हाथ की चाय पीते-पीते वोर हो गए होंगे, थोड़ा चेंज हो जाएगा ।”

न चाहते हुए भी मेरे स्वर में व्यंग्य की धार आ गई थी । गौतम ने मेरा काव्यपाठ पूरा नहीं सुना था, इसका मुझे दुःख नहीं था । पर छवि तो वहां बैठ सकती थी । आज ही चाय बनाने का कर्तव्य उसे क्यों याद आ गया ? इतनी घटिया थीं मेरी कविताएं कि सुनी भी न जा सकें ? क्या गौतम की कविताओं से भी ज्यादा ऊल-जलूल थीं ?

कविताओं की काँपी जलाने के लिए इस वार मां को नहीं आना पड़ा, मैंने ही वह काम कर दिया ।

रविवार की उस दोपहरी में घर एकदम गुनसान था। विधानगभा का सत्र एकदम सिर पर आ गया था, इसलिए घाना घाकर यह सचिवानय चले गए थे। छवि लडकियों को पिक्चर दिखाने ले गई थी। घर में केवल मैं और पीयूष दो ही थे। समय काटे नहीं कट रहा था।

वल्तम भवन से यह लौटे तब पाच बज रहे थे। आते ही बोले, “बड़ा सूना-सूना लग रहा है। कहां गए सब लोग?”

“पिक्चर।”

“और तुम क्या यहां बेबी सिटिंग कर रही हो? तुम क्यों नहीं चली गईं?”

“वे लोग तो सड़े मनाने गई हैं। मेरे लिए तो हफ्ते के सब दिन बराबर हैं।” मैंने खोशकर कहा।

“अरे, अरे, यह तो नाराज होने वाली बात हुई। चलो तुम्हें भी पिक्चर दिया जाए।”

“पिक्चर रहने दीजिए, घुमा जाएं तो वही बहुत है। हम तो उमके लिए भी तरस गए हैं।” मैंने मुंह फुलाकर कहा।

“जो हुक्म करो सरकार।” इन्होंने नाटकीय अंदाज में कहा और मेरा सारा गुस्सा उड़नछू। कुछ ही देर में तैयार होकर हम लोग निकल पड़े।

स्कूटर पर बैठते हुए याद आया, कितने दिनों बाद हम लोग घूमने हैं। छवि के आने के बाद से निकलना हुआ ही नहीं। एक संकोच-सा है। उसके अकेले होने का अहसास रात में एकांत में भी पीछा नहीं छोड़ता।

न्यू मार्केट में उतरकर हम लोगों ने छिटपुट शॉपिंग की और हाउस चले आए। रविवारीय भीड़ को चीरते हुए जब मैं ऊपर चढ़ी, तब लड़कियों की याद हो आई। काँफी हाउस आने का इतना शौक दोनों को। महीने में एकाध बार तो यह हमें ले ही आते थे। तब शांखा खाना यहीं होता था, अब तो अर्से के बाद आना हुआ है।

भीड़ तो थी, पर सौभाग्य से कोने वाली एक मेज़ हमें मिल गई। बार वहां इत्मीनान से बैठ जाने के बाद मैंने पीयूष की ओर ध्यान दिया। उसने मेरी सारी मेहनत पर पानी फेर दिया था। हवा में उड़ने से बालों का सिर पर एक टोप-सा हो गया था। काजल सारा फैल गई और दोनों मुट्ठियों से आंखें मसलकर उसने हाथ भी काले कर लिए। मैंने पर्स से रूमाल और वेबी पाउडर निकाला और उसे फिर से सजा लगी। यह मनोयोग से मुझे देखते रहे।

“पद्मा?”

मैंने भी हैं ऊपर उठाईं।

“कभी-कभी इस छोकरे से बहुत रश्क होता है।”

“क्यों भला?”

“तुम जितना लाड़-दुलार इसका करती हो, जितना प्यार इसे देते हो, इसका सौवां हिस्सा भी मुझे मिल जाता, तो मैं अपने को धन्य समझती हूँ।”

“अब आप ऐसी ऊटपटांग बातें करेंगे, तो मैं उठकर चली जाऊँगी।”

“अरे, तुम तो नाराज होने लगती हो। मैं झूठ नहीं कह रहा हूँ।”

“क्या?”

“कि पीयूष के आने से मम्मी का चिड़चिड़ापन बहुत कम हो जाएगा।”

एक बहुत तीखा-भा जवाब मेरे हाँओं तक आया था, लेकिन उसी समय कभी परिवर्तित आवाज को मुन मेरे कान गड़े हो गए ।

“मुनिए, यह विभा की आवाज नहीं लग रही आपको ?”

“तुम्हारा भी जवाब नहीं है पद्मा । तुम्हें तो हर जगह अपनी राज-कुमारियाँ ही नजर आती हैं । भगवान के लिए अब धोर मत करो । लड़कियों की फिक्र छोड़ो और इस लड़के की ओर देखो । पट्टा पूरे का पूरा दोसा ठठाने की फिक्र में है ।”

मैंने आशाकारी पत्नी की तरह ध्यान प्लेट की ओर केंद्रित किया । कुछ ही मिनट बीते होंगे और बगल वाले कमरे में हमी का फव्वारा छूटा । उसमें छवि भी गनकती हँसी विलकुल साफ सुनाई दे रही थी । उस हँसी को बहुत दिनों बाद सुना था, शायद सुरील के जाने के बाद पहली बार ।

इस बार मैंने उनसे कुछ नहीं कहा । मैं उठी और सारे एटीकेट्स को तिलांजलि देकर बाहर वाले छोटे कमरे में झाँका । मेरा अंदाज गलत नहीं था । छवि और विभा तथा गौतम और शुभा आमने-सामने सोफों पर बैठे थे । बीच बानी मेज़ पर ढेर मारी प्लेटें पड़ी थीं ।

“अरे आप ?” मच सोंगों ने मुझे एकसाथ देखा ।

“यही तो मैं भी सोच रही हूँ । आप लोग यहां कैसे ?”

“हम लोग रंगमहल से निकले थे कि आप मिल गए । हमे जबरदस्ती यहां से आए, माने ही नहीं ।” छवि ने सफाई पेश की ।

“माभीजी, आप भी कंपनी दीजिए न ?” गौतम साहब इतनी देर बाद फूटे ।

“आप क्या समझ रहे हैं, मैं अकेली ही आई हूँ यहां ? नहीं भाई, अपनी कंपनी तो अपने साथ है ।”

“तो भाई साहब को भी बुला लेते हैं न यहां । काफी जगह तो है ।”

“नो, नो, डोट डिस्टर्ब योरसेल्फ,” मैंने सख्ती से कहा और अवाउट टर्न कर गई ।

यह परेगान से इधर-उधर देख रहे थे । मुझे देखते ही झुमला पड़े,

बालों की डांट खाते थे । कड़की के दिनों में एम०जी० रोड या नेहरू पार्क से भी जी वहला लेते थे । उनके साथ हर जगह अच्छी लगने लगती थी । उनकी बोलचाल, उनकी वेशभूषा सबका अपना आकर्षण था । उन दिनों शेखर दा मेरे आदर्श पुरुष थे । (शायद वे एकमात्र पुरुष थे जिनके संपर्क में आने का मुझे अवसर मिला था ।)

उनके किस्से बड़े मजेदार होते थे । और ठहाके जानदार । हम दोनों वहाँ मुग्ध श्रोताओं की भूमिका अदा करती थीं । अपनी गुफा संस्कृति का कुछ ऐसा प्रभाव था कि वक्त पर कोई बात सूझती ही नहीं थी । कभी-कभी कोई मजेदार लतीफा अश्लीलता की सीमा को छूने लगता था, सारी मंडली हो-हो करके हंस पड़ती । हम लोग सिर्फ मुस्कराकर रह जातीं । तब शेखर दा नाटकीय अंदाज़ में कहते, “ए लड़कियो, ज़रा अपनी खोल से बाहर आओ, ज़रा खुले में उड़ना सीखो । किस युग में जी रही हो ! इस कस्वाई मनोवृत्ति को छोड़ो और ज़रा खुलकर सांस लेना सीखो ।”

कस्वाई मनोवृत्ति उनका प्रिय शब्द था जो मुझे गाली-सा लगता, मैं तिलमिला उठती थी । उनके अभिनय पर सारी मंडली एक बार फिर खिल-खिलाकर हंस पड़ती थी । शर्म और अपमान से मेरे आंसू निकल आते ।

“पदम ! रो रही हो तुम ! क्या हो गया तुम्हें ? क्या मैंने कोई बहुत बड़ी बात कह दी ! आई ऐम वेरी सॉरी । रियली आई ऐम...”

मैंने सिर उठाकर देखा, मेरा तकिया आंसुओं से भीग गया था । घड़ी : रात के तीन बजा रही थी, और यह प्यार से मेरी पीठ पर, माथे पर हाथ फेर रहे थे । उनके स्वर में व्यग्रता थी और आंखों से स्नेह छलका पड़ रहा था ।

कभी-कभी सोचती हूँ—यह इतने अच्छे क्यों हैं ?

ने तो परेमान हो गई हूँ इनकी बाँसग से दीदी।" छवि एकदम फट  
रू सड़का इनकी नजर में आया है। सब प्रोसेसस बदमाश है।  
भी यात्र करो, उरदेन देने समने है।"

ले फटकार क्यों नहीं देती एक बार? कहो कि अपनी जद में

ले एक बार अमहाय आगों से मेरी ओर देगा। होंठ कुछ कहने के  
जड़ाए, फिर एकाएक उठकर वह अंदर घनी गई।

ना छाते हुए मुझे याद आया, मैंने छवि से कहा, "मुजीब का पत्र  
तुम्हारी दरान में रख दिया है।"

उसी निनिप्तता से धावत-शान मिलाती रही। न तमबी आगों



मुझसे कहानी का जिक्र भी नहीं किया था। मुझे गौतम पर क्रोध आ रहा था, जो छवि की कहानी के लिए यहां तक भागा आया था, जब कि मेरे दो-चार गीत भी सुनने के लिए उस दिन उसके पास समय नहीं था।

“आ गईं शायद।” गौतम की बात ने मुझे चौंका दिया। छवि सीढ़ियां चढ़ रही थी।

“कहां रह गई थीं?” गौतम ने ही पूछा, “कॉलेज से तो कब की चली हो।”

“वसों का चक्कर है न ! घंटा-भर तो प्रतीक्षा में ही बीत जाता है।” उसने थकी-थकी आवाज़ में कहा।

“यह अपनी कहानी संभालो। अच्छा भाभीजी, अब पानी पिलाइए, चला जाए !” गौतम ने उठने की मुद्रा में कहा।

ड्राइंग रूम पार कर रही थी, सुना गौतम पूछ रहा है, “फोन कर दिया था, फिर भी रुकें क्यों नहीं?” छवि का उत्तर सुनने के लिए मैं बड़ी देर तक सांस रोके दरवाजे की ओट में खड़ी रही। जब कुछ सुनाई नहीं दिया, तो किचन में चली गई। बहुत पुरानी एक बात याद आई। एक बार इन्होंने मुझे सुशील के बेडरूम की खिड़की से कान लगाए हुए पकड़ लिया था। पहले तो गुस्से की रौ में काफी कुछ कह गए थे, फिर वाद में समझाया था, “देखो पद्मा, छिपकर सुनने में अपनी बुराई ही सुन पाता है आदमी। बेकार अपना मन खराब करने से फायदा ?”

पानी लेकर लौटी तो देखा, गौतम गैलरी से टिका हुआ खड़ा है और पूछ रहा है, “मानसिंह अब तो परेशान नहीं करता ?”

“नहीं” छवि ने हौले कहा।

“और मिश्रा को ज्यादा लिफ्ट मत देना। अब प्रोफेसर हो गया है तो क्या, नंवरी बदमाश है वह।”

छवि कुछ नहीं बोली, उसी तरह सिर झुकाए बैठी रही। गौतम के जाते ही मैंने कहा, “यह सज्जन तो तुम्हारे लोकल गार्जियन बने हुए हैं। बड़ा रौब मार रहे हैं !”

“मैं तो परेशान हो गई हूँ इनकी बॉसिंग से दीदी।” छवि एकदम फट पड़ी, “हर सड़का इनकी नजर में आकारा है। गब प्रोपेगण्डा बदमाश है। किमीने भी बात करो, उपदेश देने लगते हैं।”

“तो फटकार क्यों नहीं देती एक बार? कहो कि अपनी जद में रहे।”

उमने एक बार अमहाय आँखों से मेरी ओर देखा। हाँठ कुछ कहने के लिए फड़कड़ाए, फिर एकाएक उठकर वह अंदर घनी गई।

घाना घाने हुए मुने याद आया, मैंने छवि से कहा, “मुनीन का पत्र आया है, तुम्हारी दर्राज में रख दिया है।”

वह उसी निलिप्तता से घायल-दाल मिलाती रही। न उनकी आँखों से छुनी की किरणें पूटी, न गालों पर मुलायम उम आए।

“एक पत्र हम लोगों के पास भी आया है। यह परेशान है। मुने का पत्र नहीं दिया उसे?”

“अब रोख-रोख लिखूँ भी क्या?” उसने धीरे से कहा।

“यह बात हम लोग कहे तो शोभा देती है छवि! तुम्हारी उम्र की सड़निया तो दिन में दो-दो चिट्ठियाँ लिख लेती हैं।” मैंने हँसते हुए कहा, “कम से कम यही सोच लिया करो कि वहाँ वह निपट अकेला है।”

“मैं यहाँ अकेली नहीं हूँ?” उसने सड़पकर कहा। उसकी बात मुने वहाँ की तरह सगी। मेरा सारा साइ-म्यार, सारी ममता उम शब्दों के कारण ध्वंस हो गई थी।

छवि ने शायद अपनी भूल महसूस की। नरम स्वर में बोली, “आप अभी गोम के लिए बह रही थीं दीदी। महब मजबूरी समझ सीजिए कि मैं उसे निपट दे रही हूँ। कभी-कभी तो इनकी कोरा होती है, पर उम्र कर जाना पड़ता है।”

“ऐसी कौन-सी मजबूरी है? और अब तो वह भत्ता आदमी तुम्हारा नाम भी लेने लगा है।”

“वह भी मेरी ही बेवकूफी है। मैंने सबसे बह रखा है कि वह मेरे पुतेरे

भाई हैं।’

“क्यों?”

“दरअसल दीदी, घर से बाहर निकलो, खासकर कॉलेज जाओ, तो सिर पर किसीका साया बहुत जरूरी है। सौ तरह की बातें होती हैं, और सब तो भाई साहब से कही नहीं जा सकतीं।”

“शायद तुम ठीक कहती हो।” मैंने एक उसांस के साथ कहा, “मुझे तो इन बातों का अनुभव नहीं है। हमारे न कोई भाई था, न हमें बनाने की इजाजत थी। और कॉलेज मैं गई ही कितने दिन। मुश्किल से साल-भर।”

“तो आपने बी०ए० फिर प्राइवेट किया है, क्यों?”

“छोटी बहन की भूल का प्रायश्चित्त करना पड़ा मुझे। उसने लव मैरिज की थी, मौसी के देवर से।”

“आप तो बताया करती हैं न, मांजी बहुत स्ट्रिक्ट (कठोर) थीं?”

“स्ट्रिक्ट तो थीं। पूरे कस्बे में उनका दबदबा था। फिर भी रमा को वह नहीं रोक सकीं। रोकने का मौका ही न मिला। उन्हें तो सीधे शादी की खबर मिली थी।”

“बहुत बौखलाई होंगी न?”

“बहुत ज्यादा। सारा गुस्सा मुझपर ही उतरता था। उन्हें यह लगता रहा कि मैंने जान-बूझकर उन्हें अंधेरे में रखा, जब कि सचाई यह थी कि मैंने इस बात की कल्पना भी न की थी। मौसी की नाक के नीचे स कुछ होता रहा, पर उन्हें भी कुछ पता न चला। इतनी छोटी-सी उम्र इतना बड़ा साहस कर जाएगी रमा, किसीने सोचा भी नहीं था।” अनज ही मेरी आवाज में तलखी आ गई थी।

“दीदी, पता नहीं हमारे बुजुर्गों को लव मैरिज से इतनी एलर्जी है?” छवि कह रही थी, “मैंने तो एकाध बार ही उन लोगों को देखा पर इतना कह सकती हूं कि रमा दीदी के हसबैंड उनसे हर बात में रियर हैं। आप ही बताइए, उनसे अच्छा लड़का ढूंढ सकती थीं मां

इतनी अच्छी परमर्त्यिणी है, रमा दीदी तो उनके मानने कुछ भी नहीं है।”

पीतूष जाग गया था, हमलिए छवि को उठार जाना पड़ा, नहीं तो पना नहीं रितनी देर बोनती रहती। बभी गुनगुन बंटी रहती है और बभी बोनने पर धाएगी, तो राने का नाम हो नहीं मेंगी। ओर, मेरा तो गिर चकराने लगा था।

“तुम्हारे साथ मुश्किल तो यही है पच्चा, कि तुम्हें वहम-सा हो जाता है कि हर कोई तुम्हारे विरुद्ध षड्यंत्र रच रहा है।” यह कह रहे थे।

“मैं आपसे सफाई तो मांग नहीं रही,” मैंने तल्खी से कहा।

“लेकिन मैं तो सफाई देना चाहता हूँ। ज़रा-सी बात को लेकर रात-भर रोती रहोगी, उसमें तो कोई तुक नहीं है। पता नहीं कितनी नदियों का पानी आकर तुम्हारी आंखों में समा गया है, कभी सूखता ही नहीं... अच्छा, अब चटपट तैयार हो जाओ।”

“कह दिया न, मुझे नहीं जाना।”

“देखो, अब ज़रा-सी बात को प्रेस्टीज इशू मत बना लिया करो। हरी अप। सवा सात ऑलरेडी वज चुके हैं। देर से पहुंचने में तो कोई चामं नहीं है।”

मैं पत्थर की तरह वैठी रही।

बात ज़रा-सी थी भी और नहीं भी। कम से कम मेरे लिए तो वह ज़रा-सी बात नहीं थी। शुभा-विभा के स्कूल में वार्षिकोत्सव चल रहा था। पीयूष को दो दिन से बुखार था, इसलिए मैं कार्यक्रम देखने नहीं जा सकी। घर में बैठे-बैठे ही अपनी लाइली का सजा-संवरा रूप कल्पना में देखती रही थी। शुभा के गीत को दोहराती रही थी। किंतु आज पुरस्कार-वितरण

या, दोनों को तीन-तीन, चार-चार पुरस्कार मिलने वाले थे। सितनी हमरल मे कहा था उन सौगों ने, 'पापा, धात्र तो आप सौग आएने न? आठ बने कार्यक्रम शुरू होगा। बम, दो घंटे का तो कार्यक्रम है।'।

इन्होंने छूटने ही कह दिया, 'मैं आ जाऊंगा बेटी। मम्मी नहीं आ पाएंगी। पप्पू की तबीयत ठीक नहीं है न।'

दोनों के चेहरे उतर गए थे। इतना गुस्सा आया मुझे, बम से बम उनका दिल तो न छोटते। बाद में कुछ भी बात बनाई जा सकती थी। फिर दो घंटे के लिए मैं चली भी जाती, तो ऐसी कोई प्रत्यक्ष तो नहीं आ जाती। बुधवार तो पीयूष का मुकद ही नामेंस हो गया था। लेकिन इन्होंने मुझसे पूछने की भी जरूरत नहीं मममी और अब भाषण दे रहे हैं।

“दीदी,” मैंने सिर उठाकर देखा, छवि मेरे पीछे खड़ी थी, “आप हो आइए दीदी। पीयूष को मैं संभाल लूंगी। अब उतना वुखार भी नहीं।”  
 “नहीं, रहने दे, अब इच्छा नहीं हो रही।” मैंने रुंधे गले से कहा।  
 “अपने लिए न सही, लेकिन लड़कियों के लिए तो आपको जाना होगा। आपको मेरी कसम है।

और इतना कहकर ही वह रुकी नहीं। कंधी लेकर खुद उसने मेरा जूड़ा बनाया। मैं मुंह-हाथ धोकर आई। तब तक उसने मेरे लिए अपनी कोटा जरी की साड़ी, शाल सब कुछ निकालकर रख दिया था। मन ही मन उबलती रही मैं। यही बात वह पहले भी तो कह सकती थी। तब इतना नाटक तो न होता। अब अपनी भलमनसाहत दिखाकर जैसे मुझे शर्मिदा करना ही उसका उद्देश्य था। लड़कियों की उदासी का खयाल न होता, तो उसके सारे अनुग्रह ठुकराकर घर में बैठे रहती मैं, कहीं नहीं जाती।

अपने वच्चों की खुशी देखने जा रहे थे हम लोग और शकलें ऐसी बना ली थीं जैसे मातमपुर्सी पर जा रहे हों। वहां भी यह गुमसुम बने रहे। जब स्टेज पर अध्यक्ष का भाषण हो रहा था, तब इन्होंने पहली बार मुंह खोला “पहले से पता होता कि इतनी देर हो जाएगी, तो शर्माजी की नीलू से का आते। छवि के पास बैठ लेती थोड़ी देर।”

इतना कुछ तथा ! यहाँ बैठे हुए भी घर की ही बात सोच रहे हैं । कामेंशन समाप्त होते ही मैंने कहा, "आज घर चलिए । मैं बच्चों को लेकर स्कूल बस से आ जाऊँगी ।" पहले से जो पता होता वो घर में इतना मल-मारा क्यों मचाती ? बहनी नयी से बालों और बनी जाती मैं ।

इनानों से नदी-तटों सहकियों को लेकर घर पहुँची, तब यह ड्राइंग रूम में बैठे पड़ रहे थे । हँसे देखते ही बोले, "वन मिनिट प्लीज !" और अब तक हम बाग़िच में रुकें, इन्होंने हम दोनों का एक फोटो ले लिया । फिर दो-चार अलग-अलग पोज़िज में सहकियों के और भी स्मॉल ने डाले । पिछले नात यह कैमरा सुगौन ने भेजा था । विगेल-विगेल बहसों पर इनका उपयोग कर लेते थे हम लोग । बाबू का बचपन विगेल है, यह इन्हें रात को मारुह बच्चे भी याद रहा, यह जानकर अच्छा लगा । इनका मूड भी अब गान की बंसा ठीक हो गया था । मैं प्रसन्न मन से काँची बना साई और हम चारों, जिन्हें हम चारों उसे एनजॉय करते रहे । पता नहीं, कितने दिनों बाद यह सुगौन लाया था । तथा कि मेरा बिखरा हुआ घर फिर ढूँढ़ आया है ।

मोचा तो था कि छवि जान रही होगी । कम से कम इस गोर-गुरावे से तो जाग हो जाएगी । सहकियों के इतना देखेगी, उन्हें बधाइयाँ देगी । पर वैसा कुछ नहीं हुआ, तो मन खट्टा हो गया । मैंने इनसे कहा भी, "उसके नहंके को तौ मैं बाँधी पर रखती हूँ । क्या उसका इतना पत्र नहीं था ?"

"हमेशा बात का अच्छा पहलू देखा करो पप्पा ।" इन्होंने बहने नॉम्स बंदाब में कहा, "दुख की मात्रा इससे बहुत कम हो जाती है । यही सोच तो कि दो रातों से जाग रही है बेचारी । बाबू निश्चित होकर सोई होगी, क्योंकि बुझार नहीं है । और फिर रात भी तो हो गई है ।"

'ठीक है, ऐसा ही चही', मैंने काँची की ट्रे उठाते हुए मोचा/ रात गए किसी भी विषय पर बहस करने की हिम्मत नहीं थी मेरी



“दीदी, मैं घर जाना चाहती हूँ।” छवि का यह प्रस्ताव अप्रत्याशित रूप में मेरे सामने आया था। घर अर्थात् मां का घर। यह घर तो वेटिंग रूम है। सुशील के आने तक किसी तरह समय काटने का स्थान है। मन इतना खराब हो गया कि कारण पूछने की इच्छा नहीं हुई। उसीने बताया, “रात सपने में मां को देखा था; बहुत बीमार है। एक बार देखकर लौट आऊंगी।”

“ठीक है, भाई साहब तुम्हारे क्या कहते हैं देख लूँ। आखिर जाना तो उन्हींकी मर्जी से होगा न!” मैंने रुखा-सा जवाब दे दिया।

यह सपने वाली बात मेरे साथ तो चल गई, लेकिन यह उसपर विश्वास कर लेगे, यह असंभव था। दो-तीन दिनों से छवि सूजी-सूजी आंखें और उदास-उदास चेहरा लिए घूम रही है, यह क्या उनसे छिपा हुआ है! मुझे तो डर था, उसके इस आकस्मिक निर्णय का दोष मुझपर न थोप दिया जाए।

पर वैसा कुछ नहीं हुआ, इन्होंने बड़ी शांति से अपनी स्वीकृति दे दी और मैंने राहत की सांस ली। मैं भी कुछ दिनों के लिए ज़रा निश्चित होकर रहना चाहती थी। चौबीसों घंटे घर में किसी तीसरे व्यक्ति की उपस्थिति मन पर भार बनने लगी थी। नौकरी लगने तक सुशील भी हम

लोगों के साथ ही रहते थे। पर उनके साथ यह समस्या नहीं थी। छवि को लेकर हर बार मन में यही सकोच बना रहता है—बेचारी अकेली है, उसका पति यहाँ नहीं है।

जब एक बार जाना तय हो गया तो मैं अपनी सारी कड़वाहट भूलकर उसकी तैयारी में जुट गई। पता नहीं क्यों मन में हमेशा एक डर-सा रहता है। कोई मुझे गलत न समझ ले। दिन-दिन-भर आच के सामने बैठकर मैंने उसके भाई-भतीजों के लिए मिठाइयाँ बनाईं; रात-रात-भर जागकर पीयूष के लिए सूट सीती रही। बरिक्क छवि ने एकाध बार कहा भी, “दीदी, कितनी मेहनत कर रही है आप! मुझे, लगता है, मेरे जाते ही आप बीमार पड़ने वाली हैं।”

कोई इतना-भर कह देता है, तो सारी मेहनत सफल हो जाती है। सारी थकान दूर हो जाती है। लेकिन यह भी हमेशा कहा नसीब होता है।

जाने वाले दिन छवि जब अपनी पुस्तकें मेज़ से उठाकर अलमारी में रख रही थी, तो मुझे धाद आया। मैंने कहा, “छवि, गीतम की कोई किताबें होगी तो अलग रख देना। किसी दिन मांगेंगे, तो मैं कहां ढूँढ़ती फिरेगी।”

“गीतम का ट्रांसफर हो गया है, बिलासपुर।” यह वाँश बेसिन के सामने खड़े शेष कर रहे थे, वही से बोले।

“आपसे किसने बताया?”

“उसका फोन आया था।”

“एक बार घर आकर तो बता सकता था। यों तो दो-दो घंटे घोर करता रहा है।” सचमुच इतना गुस्सा आ रहा था मुझे।

“वह आए थे दीदी, आप लोग घर पर नहीं थे।” छवि ने हौले से बताया।

“अरे, तो कब जा रहे हैं वे लोग? किसी दिन खाने पर ही बुला लेते उन्हें, विद फैलिमी।” मेरा गुस्सा भाप बनकर उड़ गया था और अब मुझे

रहस्य धर्म की चिंता हो रही थी ।

“अभी दो-तीन दिन तो मैं बाहर जा रहा हूँ । लौटकर आऊंगा, तब देखी जाएगी ।” इन्होंने कहा ।

साथ के लिए टिफिन भर रही थी मैं, अचानक जैसे मुझे ज्ञान प्राप्त हो गया । छवि रानी की माताजी एकाएक सपने में क्यों अवतरित हो गईं, इसका रहस्य मेरे सामने सूर्य के प्रकाश की तरह स्पष्ट हो गया ।

मैंने तो सोचा था कि छवि के जाने के बाद मैं अपने घर में निश्चित होकर रह सकूँगी, किंतु उस समय पीयूष की बात मैंने नहीं सोची थी। उसके जाते ही घर इतना सूना हो जाएगा, दिन इतने लंबे हो जाएंगे, इसका गुमान ही नहीं था। लड़कियाँ खा-पीकर स्कूल चली जाती, तो एकांत जैसे मुझे लौलने को दौड़ने लगा। अजीब-अजीब आवाज़ें मेरा पीछा करने लगतीं। कभी लगता, झूले में पीयूष कुनमुना रहा है और मैं दौड़कर उसे उठाने जाती, तब खाली झूला मेरा मुह चिढ़ाने लगता। कभी लगता, छवि सिर-हाने खड़ी होकर कह रही है—दीदी ! चाय ले लीजिए। सिर उठाकर देखती तो सिर्फ घू-घू करता सीलिंग फैन ही नजर आता। स्नेह के घागों में इतनी लिपट गई हूँ, खुद मुझे ही पता न था।

लड़कियाँ भी बहुत उदास हो गई थी। बहुत दिनों से एक भैया की फरमाइश थी उनकी, वह इस तरह अनायास की पूरी हो गई थी। चाची से भी अच्छी-खासी दोस्ती हो गई थी उनकी। उनके बिना वह कमरा खूब बड़ा-बड़ा लगने लगा था। और तो और, पापा भी उन लोगों के साथ चले गए थे। शुभा-विभा का वश चलता, तो शायद सिर्फ सोने के लिए ही घर पर आती।

दो-तीन दिन तो मैंने विस्तर पर पड़े-पड़े ही काट लिए। दो-तीन

न्यास पूरे के पूरे पढ़ गई मैं। चौथे दिन सोचा, अब कुछ हाथ-पांव लाना चाहिए। कुछ नहीं तो बगल वाले कमरे की सज्जा ही बदल दी जाए। झूले को फोल्ड करके मचान पर डाल दिया जाए, तो दोनों पलंग स-पास आ जाएंगे। फिर यह कमरा उतना सूना नहीं लगेगा।

काम इतना आसान नहीं था, जितना सोचा था। कमरे में सिर्फ झूला ही तो नहीं था। ग्राइप वाटर और टीथिंग सीरप की खाली शीशियां थीं, पुरानी नैपीज थीं, खिलौने थे, पाउडर के पुराने डिब्बे थे—इन सबको समेटते-समेटते हांफ उठी मैं। हर चीज का स्पर्श पीयूष की याद दिला जाता था। झूले की मसहरी खोलते हुए तो मुझे रुलाई फूट पड़ी। किसी तरह मैंने मसहरी उतारी। नन्ही रेशमी रजाई धूप दिखाने के लिए एक ओर रख दी। फिर गद्दा समेटा और यह क्या? गद्दा और दरी के बीच में एक सफेद कागज पड़ा था मुड़ा-तुड़ा-सा।

बहुत पुरानी-सी आदत है यह। कागज का कोई भी टुकड़ा मिले। मैं पढ़े बिना नहीं रहती। मां के राज्य में घर में सिर्फ 'कल्याण' आता था। दैनिक अखबार भी हमारी नज़रों से दूर रखा जाता था। क्योंकि अक्सर उसमें भी चटपटी खबरें होती थीं। तब बाज़ार से जो भी सौदा आता, हम तत्परता से उसे खोलने बैठ जातीं। असली आकर्षण होता था उस कागज में जिसमें यह सौदा आया था। इन अखबारी कागजों ने हमें फिल्मी दुनिया की सैर कराई है, चुटकुले सुनाए हैं, बलात्कार और आत्महत्याओं की चटपटी खबरें सुनाई हैं। मां को हमारी इस कारस्तानी का पता नहीं चलता नहीं तो शायद उनपर भी बैन लग जाता।

अब तो घर में पढ़ने के लिए इतना सब होता है, फिर भी पुराना आदत नहीं जाती। हथेली से दवा-दवाकर उस कागज को सीधा किया। पलंग पर बैठकर पढ़ने लगी। पढ़ते हुए हर पंक्ति के साथ मेरा खून होता जा रहा था। लिखा था :

छवि,

कल रात की उन्मत्तता के लिए क्षमा चाहता हूं। ऐसे क

क्षण जिन्दगी में कभी-कभार आ ही जाते हैं। उसके लिए अपने-आपको कोसना व्यर्थ है, यह भी जानता हूँ। क्षमा मिफं इसलिए कि मैं तुमसे बड़ा था, उम्र में भी और अनुभव से भी। मुझे ही बकल से काम लेना था।

पिछले दिनों ट्रांसफर रुकवाने के चक्कर में बहुत हाथ-पांव मारता रहा। भोपाल महंगा सही, यहां पत्नी के पास छोटी-सी नौकरी थी। मेरे मध्यवर्गीय जीवन में उसका बहुत बड़ा सहारा था। सब कुछ छोड़-छाड़कर नई जगह सेटिल होने की कल्पना कंपा देती है।

लेकिन मेरा चाहा नहीं हो सका। बहुत ही भारी मन से कल तुम लोगों से विदा लेने पहुंचा था। तुम्हें अकेली देखकर कुछ अधिक ही भावुक हो उठा मैं, एक अनाम भावात्मक रिश्ता तुम्हारे साथ स्थापित हो रहा था मेरा, यह कल ही जाना और उसी आवेग में थोड़ा बहक गया।

तब पता नहीं था कि तुम मानसिक रूप से इतनी त्रस्त हो। पति का लम्बा प्रवास, घर का बोझिल वातावरण और वच्चे की बीमारी—इन सबने मिलकर तुम्हें किस तरह हिला दिया था, यह तो तब जाना जब तुम परकटे पक्षी की तरह मेरी गोद में सिर रखकर फफककर रो पड़ी।

मैं मनुष्य हूँ, पत्थर नहीं। तब भूल गया था कि मैं किमीका पति हूँ, पिता हूँ। तुम किसीकी पत्नी हो, मां हो। वह तो एक भावावेग था, रोजमर्रा की जिंदगी में प्रवेश करते ही उतर गया है। सोचता हूँ ..

टिप्पणी ।

दरवाजे की घटी इतनी कंकश कभी नहीं लगी थी। उसी अस्तव्यस्त भाव से जाकर दरवाजा खोला मैंने। सामने यह खड़े थे—हाथ में अटैंची लिए।

“आ...प !”

“क्यों पहचान में नहीं आ रहा हूँ क्या ? दो ही दिन में इतना बदल

गया हूँ ? और तुम्हारी शक्ल ऐसी क्यों हो रही है ? घर पर तो सब ठीक-ठाक है न !...किसकी चिट्ठी आई है यह ? मांजी की ?”

उन्होंने व्यग्रता से पत्र मेरे हाथ से ले लिया । सरसरी निगाह से उसे पढ़ा, फिर टुकड़े-टुकड़े करके हवा में उछाल दिया ।

“यह क्या किया आपने ?” मैंने तैश में आकर कहा ।

“वही किया जो छवि को बहुत पहले करना चाहिए था ।” इन्होंने शांत स्वर में उत्तर दिया ।

“लेकिन कम से कम एक बार...”

“जवाब-तलब करना चाहती हो न ? अब भी कर लेना ।” मैं गवाही दे दूंगा । फिर अटैची उठाकर भीतर जाते हुए बोले, “चौदह घंटे का सफर करके आया हूँ । चाय-वाय तो पूछो ।”

चाय तो खैर मैंने बनाई ही । फिर नहाने के लिए पानी भी गरम किया । खाना भी बनाया, खाना खाकर बड़े इत्मीनान से तैयार होते हुए बोले, “ऑफिस हो आऊँ ज़रा । आधे दिन की सी० एल० ही वच जाएगी ।”

इतनी हैरत हुई मुझे । इतनी बड़ी बात हो गई और इन्हें अपनी सी० एल० की पड़ी है । सच, इनकी थाह लेना मुश्किल है ।

शाम को दफ्तर से लौटे, तो लड़कियाँ घेरकर बैठ गई, “पापा, हमारे लिए क्या लाए ?”

“अरे, मम्मी ने क्या अब तक तुम्हें बताया नहीं ।” फिर भीतर आकर बोले, “मेरी अटैची अभी तक बाहर ही पड़ी है पद्मा, ड्राइंग रूम में ! ऐसी क्या नाराजी है भई !”

फिर डाइनिंग टेबुल पर सारा सामान खोलकर बैठ गए । दालमोठ-पेठे के पांच-छः पैकेट थे, अलग-अलग प्रकार के । गुड़िया थी, खिलौने थे । साड़ी और मीनाकारी वाली चूड़ियाँ थीं । पुस्तकें थीं । वह इत्मीनान से बैठे समझाते रहे कि कौन-सी वस्तु वह खरीदकर लाए हैं, कौन-सी समझीजी ने भेजी है । लड़कियाँ पास बैठीं किलकती रहीं, पीयूष की याद आते ही उन

लोगों का गला भर आया था। और जब इन्होंने बतलाया था कि वहां से चलने पर साथ आने के लिए वह खूब रोया था, तो एक तरह से अच्छा भी लगा था।

मैं नितांत उदासीन होकर उनकी बातें सुनती रही। अनुमने भाव से चीजें छू-छूकर मैंने वापस रख दीं। उस समय सोच-सोचकर मेरा दिमाग सुन्न हुआ जा रहा था। दालमोठ की किस्मों की चर्चा ज़रा अच्छी नहीं लग रही थी। प्रसंग की गम्भीरता को देखते हुए इनकी सारी बातें ही बड़ी हास्यास्पद लग रही थीं।

लेकिन रात बेडरूम में प्रवेश करने पर देखा, यह सब दिखावा था। वे भी उतनी ही बुरी तरह आहत हुए थे। दोनों हाथों में सिर दिए पता नहीं कितनी देर अपनी मेज़ के पास बैठे रहे। मैं अपने विस्तर पर पड़े-पड़े देखती रही। आखिर जब आधी रात हो चली तो मुझसे नहीं रहा गया।

“सोएंगे नहीं क्या आज ! रात-भर के जगे हुए हैं।” मैंने प्यार से सिर पर हाथ फेरते हुए कहा।

उन्होंने सिर ऊपर उठाया, आंखों में उदासी के गहरे बादल थे। “पप्पा !” थकी-सी आवाज़ में बोले, “बड़ी उलझन में फँस गया हूँ। आज दफ़्तर में भी ज़रा मन नहीं लगा। निरन्तर वही एक बात सोच रहा हूँ।”

“हमारे सोचने-विचारने से बीते क्षण लौट तो सकते नहीं। फिर परेशान होने से फायदा ?” मैंने कुछ कहने की गरज से कहा।

“एक बात मेरे मन में आई है पप्पा।”

“क्या ?”

“हमें भूल जाना होगा कि इस तरह का कोई पत्र हमने देखा था। कर सकोगी इतना ?”

“वाह, इतनी देर सोचकर यही हल निकाला है ?”

“यह कोई बहुत मुश्किल काम है पप्पा ?”

“इससे क्या होगा ?” मैंने वहीं पास एक स्टूल पर बैठते हुए रूखी आवाज़ में कहा।



“क्या होगा यह तो नहीं कह सकता, परन्तु याद रखने में दुःख ही दुःख, इतना जानता हूँ। छवि को अगर किसी दिन पता चला, तो वह कभी मेरे सामने सिर नहीं उठा सकेगी। सुशील अगर जान जाएगा, तो जिदगी-भर सुख की नींद नहीं सो सकेगा। इतना बड़ा अन्याय मुझसे तो नहीं हो सकेगा।”

“न्याय-अन्याय तो मैं जानती नहीं, लेकिन अगर मेरे भूलने से छवि का कलंक दूर हो जाता है, तो यही सही।” मेरे मन में धीरे-धीरे रोप उफनने लगा था।

“यह कलंक-वलंक कहां की बातें ले बैठें तुम, हिश, इट इज़ ऑल हंगर... मैं छवि का पक्ष नहीं ले रहा पद्मा; लेकिन उसे कटघरे में रखने से पहले एक बार सोचो। क्या तुम विश्वास के साथ कह सकती हो कि सुशील वहां एकदम संन्यासी बना हुआ है? इतने स्वच्छंद समाज में इतने सारे प्रलोभनों के बीच उसका मन एक बार भी नहीं डोला होगा? क्या तुम दावे के साथ कह सकती हो?”

उनके तमतमाए चेहरे को एकटक देखते हुए मैंने बस इतना कहा, “काश, छवि सुन पाती, आप कितनी अच्छी पैरवी कर रहे हैं उसकी!”

मेरे व्यंग्य से मर्माहत होते हुए उन्होंने कहा, “मैं किसीकी पैरवी नहीं कर रहा। सिर्फ इतना जानता हूँ कि देश हो या विदेश, मर्द हो या औरत अकेलापन सबको एक-सा सालता है। यह मैं किसी और के अनुभव की बात नहीं कर रहा हूँ। वही बात कर रहा हूँ, जिसे तुम्हारी साहित्यिक भाषा में भोगा हुआ यथार्थ कहते हैं।”

“अच्छा, यह यथार्थ, यह अकेलेपन का अहसास आपके हिस्से में पड़ा?”

“तब जब तुम अपनी तीन हड्डियां तुड़वाकर पांच महीने तक अस्पताल में पड़ी थीं। जब मैं दफ्तर, घर और अस्पताल में चकराघिन्नी की घूमता था। तुम्हें शायद वह सब इतनी आत्यंतिकता के साथ याद लेकिन मैं तो नहीं भूल सकता। तुम्हारे साहित्य में संत्रास, कुंठा—

कुछ होता है, सब मैंने उन दिनों अनुभव किया है। घर में रहता तो खाली घर काटने को दीड़ता, क्योंकि मांजी बच्चों को लेकर चली गई थी। दफ्तर जाता तो सैकड़ों चिन्ताएं किसी जिद्दी बच्चे की तरह साथ लग जाती। शाम होती तो अस्पताल का रुख करता, अपनी स्नेहमयी पत्नी से मिलने। लेकिन वहां सामना होता एक बीमार, चिढ़चिढ़ी, ईर्ष्यालु औरत से। उससे मिलने की कल्पना से ही मन कापने लगता। हॉस्पिटल के फाटक पर पहुंचकर सोचता, उट्टे पैरों भाग जाऊं और किसी पक्कर हॉल को शरण लूं।”

“प्ली...ज।” मैंने तड़पकर कहा और उनका मुंह अपनी हथेलियों से बंद कर दिया। वे चुप हो गए, अपने हाथों में मेरे हाथ लेकर धीरे-धीरे सहलाते रहे। फिर मृदु स्वर में बोले, “बहुत बुरा लगता है न उन बातों को याद करना?”

मैंने उत्तर में पलकें झुका दी।

अपने मन का भार हल्का होते ही वे तो प्रगाढ़ निद्रा में खो गए, लेकिन मेरी आंख नहीं लग सकी। अस्पताल के वे दिन किसी दुःस्वप्न की तरह मेरा पीछा करते रहे। रोज़ की तरह स्टूल पर चढ़कर कपड़े सुखा रही थी, पता नहीं कैसे उलट गया। ज़मीन पर चित्त गिर पड़ी मैं और उसके बाद जब होश आया, तब मैं अस्पताल में थी, शरीर प्लास्टर में जकड़ा हुआ था। एक-डेढ़ महीने तो उसी तरह एकदम सीधे लेटना पड़ा था, हिप बोन टूट गई थी। लेटे-लेटे पता नहीं कैसे ऊटपटांग विचार आते रहते मन में। जिंदगी-भर लंगड़ाकर चलने की कल्पना से मन कांप-कांप जाता। डॉक्टर ने इशारा कर दिया था कि हमें दो लड़कियों पर ही अब संतोष कर लेना होगा। यह बात मन में कांटे-सी गड़ती। अपना नारीत्व व्यर्थ हुआ जान पड़ता। ऐसे समय इनसे सहानुभूति की, आश्वासनों की अपेक्षा रहती। सारा दिन जैसे सिमटकर पांच बजे की सुई पर केंद्रित हो जाता था।

यह नियम से आते थे। घंटों पास बैठे रहते, कुछ घर की, कुछ बाहर की सुनाते। अपने हाथों से चाय बनाकर पिलाते। फल काटकर देते। फिर पता नहीं क्यों लगने लगा कि उनके स्पर्श में स्नेह का उत्ताप अब पहले का-सा नहीं रहा है। वह मात्र एक रूटीन हो गया है, एक उबाऊ रूटीन। तब इतना असहाय अनुभव करती अपने-आपको।

हर रोज शर्म किसीकी मदद से मैं अपने को संवार लेती और फिर बड़ी हसरत से दर्पण देखती, दर्पण देखती और रोना आ जाता। तब अपनी सारी खोज में इनपर ही उतारती। पता नहीं कैसे-कैसे उपालंभ देती। उस समय यह भी याद नहीं रहता कि मैं अस्पताल के जनरल वार्ड में पड़ी हूँ। अपने पैरों चलने वाला हर व्यक्ति मेरी ईर्ष्या का पात्र था। हर सुंदर औरत मुझे जहर लगती, खास कर मिसेज कश्यप। पड़ोसी थे वे लोग। इस नाते जितना बन सकता था, मदद कर देते थे। यह होटल में खाते थे, फिर भी यदा-कदा कुछ न कुछ बनाकर वह भेजती रहती थी। मेरे पास हर तीसरे-चौथे दिन आकर बैठती थी मिसेज कश्यप। कभी कपड़े बदलवा देती, कभी कंधी कर देती। कई बार मैंने उनसे चिट्ठिया भी लिखवाई हैं। पर इन सबके लिए कृतज्ञ होना तो दूर, मैं मन ही मन द्वेष से घघकती रहती थी।

अभी उस दिन मिसेज कश्यप आई थी मिलने। गोलगप्पे-सी फूल गई हैं और वालों में भी सफेदी झांकने लगी है। यह सोचते हुए भी शर्म आती है कि उन्हें देखकर बहुत संतोष हुआ, राहत मिली। अस्पताल से लौटते हुए यही एक बीमारी साथ ले आई हूँ मैं। जिस व्यक्ति से मन ही मन द्वेष करती हूँ, उसे दु खी देखकर संतोष होता है। इनके बॉस की एक बड़ी प्यारी-सी लड़की थी। रूप ऐसा कि आंखें टिकी रह जाएं। उतने ही संपन्न घराने में ब्याही गई है। पिछले साल सुना कि उसे कैंसर हो गया है। सुनकर दु ख होना चाहिए था, पर नहीं हुआ।

और "और मैं एकदम अपने विस्तर पर उठ बैठी। अपने मन को खूब ठोक-बजाकर देखा—कल वाली बात से मन को दुःख कितना-सा हुआ था। बल्कि बहुत गहरे एक तृप्ति का अहसास हुआ था। छवि की कच्ची उम्र, उसका दूधिया रंग, उसका आकर्षक व्यक्तित्व, उसका भरा-पूरा परिवार, विदेश जाकर ट्रेनिंग लेने वाला उसका पति, यहां तक कि नन्हा पीयूष भी " सभीको लेकर मन में एक सूक्ष्म ईर्ष्या-सी थी। उस पत्र के रूप में मेरे हाथ में एक द्रूप कांड आ गया था, जो पल-भर में उसे निष्प्रभ कर सकता था। उस महत्त्वपूर्ण दस्तावेज के टुकड़े-टुकड़े कर देने से ही क्या बात समाप्त हो

जाती है ? अपने मन में इतना बड़ा चोर छिपा होता है और कभी-कभी अपने को ही पता नहीं चलता ।

“मेरे मन में एक बात आ रही है ।” सुबह चाय का पहला घूंट लेकर इन्होंने शुरुआत की ।

“क्या ?”

“अगर सुशील को बहुत असुविधा न हो, तो कुछ दिनों के लिए छवि को उसके पास भेज दें ।”

“इसी लायक हम होते तो क्या इससे पहले नहीं भेज सकते थे ?” मैंने कहा ।

“सो तो है, लेकिन हमारी लियाकत का सवाल अब इतना महत्वपूर्ण नहीं रह गया है । इस समय तो सोचना यह है कि वियोग की उनकी अवधि इतनी लम्बी न खिच जाए कि मिलने की सम्भावनाएं ही समाप्त हो जाएं । व्यवस्था तो मुझे कुछ न कुछ करनी ही है । सिर्फ तुम्हारी राय जानना चाहता था ।”

मैं चुप बनी रही ।

“क्या सोच रही हो ?”

“सोच रही हूं कि यह दंड है या पुरस्कार ?” मैंने संक्षिप्त-सा उत्तर दिया । इनका चेहरा अचानक तमतमा आया । कुछ सख्त लहजे में बोले, “पद्मा ! हम लोगों ने तय किया था कि हम सब कुछ भूल जाएंगे ।”

“हम लोगों ने तय कुछ नहीं किया था । सिर्फ आपने प्रस्ताव-भर किया था । और किसी भी ऐसी-वैसी बात को भुलाना इतना आसान नहीं होता, कम से कम मेरे लिए नहीं है । मैं आप लोगों की तरह अल्ट्रा मॉडर्न नहीं हूं । रूढ़िवादी ही सही, लेकिन संस्कारी मन है मेरा ।” इतनी-सी बात कहते हुए भी मैं हांफने लगी थी ।

“और तुम्हारे संस्कार, तुम्हारी रूढ़ियां, तुम्हारी मान्यताएं दैहिक संबंधों पर आकर समाप्त हो जाती हैं । तुम्हारे लिए पवित्रता का मापदंड

सिर्फ शरीर है। लेकिन इस हाड़-मांस से बने शरीर के परे भी एक वस्तु है—मन; उसके लिए कभी सोचा है?"

एक असाधारण आवेश में इतना सब कुछ कह जाने के बाद यह क्षण-भर को रुके—शायद मेरे उत्तर के लिए। फिर गंभीर होकर बोले, "मैं ठीक तुम्हारी तरह एकांगी होकर नहीं सोच पाता, यही तो मुश्किल है। यह अनुभवहीन लड़की दो साल से पति की प्रतीक्षा में आँखें बिछाए बैठी है; उसके पत्रों पर जी रही है। यदि उसके हाथ से एक प्रमाद हो भी गया, तो मैं उसे अक्षम्य अपराध नहीं मान सकता। आखिर हम लोग उन्हें भी तो क्षमा कर देते हैं, जो मन कहीं और रख आते हैं और साल-दर-साल दांपत्य का नाटक किए जाते हैं।"

"यह किसके लिए कह रहे हैं आप?" मैं करीब-करीब चीख पड़ी। बगल वाले कमरे में होमवर्क करती हुई लड़कियाँ दोड़ी आईं और भयचकित नज़रों से हमें घूरने लगीं। अपने आवेग पर लज्जित होकर मैंने सिर झुका लिया।

"कहो बेटेराम! क्या तकलीफ है आपको?" इन्होंने हंसते हुए पूछा, तो वे धीरे-धीरे अपने कमरे की ओर लौट गईं। लेकिन उनकी आँखों में तिरता हुआ संदेह साफ झलक रहा था।

"मैं सिर्फ एक उदाहरण दे रहा था पचा! तुम्हें इतना ऑफ होने की जरूरत नहीं थी।" इन्होंने कसैली आवाज़ में कहा और उठकर चले गए।

खाली प्यालियों को शून्य दृष्टि से देखती हुई मैं पता नहीं, कितनी देर बैठी रह गयी।

सुशील का पत्र यथावकाश आ गया था। पत्र का प्रत्येक अक्षर बतला रहा था कि छवि के वहां पहुंचने की कल्पना-मात्र से वह कितना पुलकित हो उठा है। भैया-भाभी के त्याग, स्नेह, ममता और सूझबूझ की प्रशंसा में उसने पृष्ठ के पृष्ठ भर दिए थे।

अब यही पछतावा होता रहा कि यह खयाल हमें पहले ही क्यों न आया। इतनी ही दौड़-धूप तब कर लेते हम। कम से कम अपने उत्तर-दायित्व का तो ठीक से निर्वाह हो जाता।

सुशील ने बार-बार लिखा था कि बहुत आउट ऑफ दि वे जाकर रुपयों का प्रबंध न करें। उसे थोड़ी निराशा ही तो होगी, वह झेल लेगा। घर-भर को परेशानी में डालकर मिलने वाली खुशी उसे स्वीकार नहीं है।

दूसरे पत्र में लिखा था—सौभाग्य से उसके एक प्रोफेसर आठ महीनों के लिए 'लेक्चर टूर' पर जा रहे हैं। उनका फनिशड फ्लैट आसान शर्तों पर मिल रहा है। अगर छवि का आना निश्चित हो, तो वह बात करे।

निश्चित तो खैर था ही।

तीसरे पत्र में था—छवि अगर जल्दी आ सके तो अच्छा है। ६-८ महीने का कोई छोटा-मोटा कोर्स वह पूरा कर लेगी। हां, अगर पीयूष साथ आए, तो असुविधा हो सकती है। यहां की जलवायु में बहुत फर्क है। शुरू-

गुरु ने बड़ों को भी परेशानी होती है। फिर चाहूँ करने वाला भी कोई नहीं है लासनात ।

पत्र का स्वर स्पष्ट था, वह छवि को बिल्कुल अकेले में पाना चाहता था। उन दोनों के बीच वह बच्चा भी उसे गवारा नहीं था। इतनी दूर से शायद वह अपने को उस अनदेखे बच्चे से जुड़ा हुआ महसूस नहीं कर पा रहा था। उसके लिए शुभा-विभा और पीपूष में कोई खास अंतर नहीं था।

लेकिन छवि के पत्रों में यह कसक साफ झलक जाती थी। सुशील के मिलने का उल्लास, नया देश देखने का उत्साह—इन सबपर उदासी का एक पर्त-सी रहती। कितने प्रयासों से उसने अपने को सँवार किया होगा। इसे हम लोग समझ सकते थे।



और अप्रैल की एक सुबह वह अचानक ही आ खड़ी हुई। उसके आने के साथ ही घर में जैसे उत्सव का वातावरण हो गया। लड़कियों का आनंद जैसे छलका पड़ता था। मुझसे तो आते ही ऐसे लिपट गई कि सारा कल्मप पल-भर में ही धुल गया।

साथ उसका भाई आया था, बोला, "दीदीजी ! यह महारानी परीक्षा देने के लिए हाजिर हुई हैं। मेरी तो समझ में नहीं आता कि पेपर में क्या लिखेंगी आखिर। एक दिन भी तो किताब खोलकर देखी नहीं। वस, जब देखो तब जीजाजी को लंबी-लंबी चिट्ठियां लिखी जा रही हैं। फॉर्म के पैसे तो बिगड़े ही थे, यह किराया और ऊपर से खर्च हो गया।"

"किताबें तो सब यहां छोड़ गई थी, वहां पढ़ती क्या खाक ! वह तो ऐसे जमकर बैठ गई वहां, हमने सोचा परीक्षा का आइडिया ड्राप कर दिया होगा।" अनचाहे ही स्वर मेरा स्नेहाद्रं हो आया था। लगा, जैसे शुभा-विभा की ही बात कर रही हूं मैं।

एक शर्मीली मुस्कराहट उसके चेहरे पर खेलती रही। दोपहर में भाई जब अपनी सफर की थकान मिटा रहा था, वह मेरे पास आकर बैठ गई और बड़े रहस्यमय अंदाज में बोली, "मुझे तो पता है दीदी, मेरी अटेंडेंस इतनी शॉर्ट है, परीक्षा देने का कोई सवाल ही नहीं उठता, मैं तो सिर्फ आने

का वहाना ढूँढ़ रही थी।”

“यहां आने के लिए वहाना ढूँढ़ना पड़ता है तुम्हें?” मैंने आहत स्वर में कहा।

“आप समझ नहीं रही हैं” दरअसल मैं पीगूय को आपके पास छोड़ना चाहती हूँ।”

“मेरे पास?”

“जी, और मां और बाबूजी ज़िद कर रहे हैं कि यह उन्हींके पास रहे। उनके पास छोड़ने को मेरा मन नहीं करता। लाइ-प्यार तो यह बहुत करते हैं, पर बच्चे के साथ तो तो परेशानियां होती हैं, जो उनके पण भी नहीं हैं। भाभियों पर मेरा विश्वास नहीं है। ये लोग बहुत अच्छी हैं, पर... आपके पास रहेगा, अपनी दीदी लोगों के पास रहेगा, तो मैं निश्चित होकर जा सकूंगी। और किसीके पास तो मैं उसे छोड़ नहीं सकती... और देखने ही देखते उसकी आंखें भर आईं और यह मेरे कंधे पर गिर गिरकर गूबकने लगी। पता नहीं कितने दिनों से इस आवेग को यह अपने में छिपाए बैठी थी।

व्यग्र होकर मैं उसकी पीठ पर, गिर पर हाथ फेरती रही। मुर्शीय पर इसना रोप आया। नन्हे-मे बच्चे को छोड़कर चल देना क्या इसना आमान है! मा बनकर देखे कोई तब पता चले।

"वह बच्चे को मेरे पास छोड़ जाना चाहती है।" रात में उन्हें  
आया तो एकबारगी वह भी चौंक उठे।

"तुमने क्या जवाब दिया?"

"मैं तो आज ही सुशील को लिख दूंगी कि यह रोग मेरे वश का  
हीं है।"

"लेकिन प्रस्ताव तो सुशील की ओर से आया नहीं है, जिसने किया है  
उसीसे कहो न।"

"यह नहीं हो सकता।"

"क्यों?"

"उसने इतने विश्वास के साथ मुझसे कहा है कि मुझसे उसके सामने  
मना करते नहीं बनेगा।"

"वही तो पूछ रहा हूँ, क्यों नहीं बनेगा?"

"इसलिए कि मैं उतनी दुष्ट नहीं हूँ जितना आप समझते हैं।" मैंने  
लगभग नीचकर कहा और रात के उस शांत वातावरण में मुझे अपनी ही  
आवाज बड़ी कर्कश लगी। इनकी ओर एक रोष-भरा कटाक्ष फेंककर मैं  
दूसरी तरफ़ लेट गई।

कभी-कभी सभी मेरी सहनशीलता की परीक्षा क्यों लेने लगते हैं?

सुबह से शुभा-विभा किलक रही थीं "मम्मी, चाची कह रही थी, पप्पू अब साल-भर अपने ही पास रहेगा। यह बात सच्ची है न !"

मतलब महारानी जी सब कुछ तय करके बैठी हैं। विभा कहती रही, "मम्मी, झूला तुम अपने कमरे में तो नहीं रखोगी? हमारे कमरे में ही रखना, दोनों पलंगों के बीच, रोएगी तो हम लोग संभाल लेंगे।"

कितना चवर-चवर करने लगी हैं ये लोग !

महरी भी तो कम नहीं, कहने लगी, "बाबा को रखिच लेना चाई। बच्चा रहेगा घर में तो अच्छा लगेगा।"

अब इससे सलाह मांगने गया था कोई? और तो और, श्रीमानजी भी ! खा-पीकर मजे से आराम कुर्सी पर बैठे झूल रहे थे। ग्यारह बज रहे थे। बच्चे स्कूल चले गए थे। छवि भाई के साथ टाइम टेबल देखने कॉलेज गई थी। सोचा था, सबके जाने के बाद पत्र लिखूंगी इत्मीनान से। कागज-पेन सब सजाकर बैठी थी और इनके दफ्तर जाने की राह देख रही थी। लेकिन इन्होंने कपड़े तक नहीं बदले थे।

"जाना नहीं है आज?" मैंने चिढ़कर कहा।

"आज छुट्टी ले ली है।"

"किस खुशी में?"

"ऐसे ही। विशेषज्ञों का कहना है कि कभी-कभी दफ्तर से गोल कर जाना चाहिए, स्वास्थ्य के लिए अच्छा होता है। फिर कभी-कभी तुम्हारे साथ अकेले में बात करने की भी इच्छा होती है।"

हारकर मैं मेज के पास से उठी और एक कुर्सी खींचकर उनके सामने जा बैठी, और बोली, "कहिए, क्या बात करनी है?"

"कोई खास बात नहीं है, तुम काम कर लो अपना। चिट्ठी लिख रही थी न। किसे? सुशील को? लिख लो न, फिर बात करेंगे।"

"आपके सामने नहीं लिख पाऊंगी।"

"क्यों, इतनी प्राइवेट चिट्ठी है? मजमून तो शायद रात को तुमने बत्ता ही दिया था।"

“मजमून वह नहीं है जो आप समझ रहे हैं।”

“तो फिर शायद छवि के बारे में लिखना होगा, ठीक है न?”

“देखिए, मैंने कल भी आपसे कहा था कि मैं उतनी दुष्ट नहीं जितना आप समझ रहे हैं।” मेरी आवाज़ फिर ऊंची चढ़ गई थी। सूने घर में एक गूँज-सी पैदा करती हुई अपनी ही आवाज़ मुझे बड़ी कर्कश लगी।

“यही तो मुसीबत है डार्लिंग, कि तुम उतनी दुष्ट नहीं हो जितना पोज़ करती हो।”

मैं तो हैरत से देखती रह गई।

“हम सब जानते हैं कि तुम्हारे पास इतना प्यार, इतनी ममता है कि सिर्फ़ उसे छिपाने के लिए तुमने ज़वान पर इतने कांटे उगा रखे हैं; तुम्हारी इस असलियत को सब जान गए हैं। सुशील, शुभा, विभा—यहां तक कि छवि भी तुम्हें पहचान गई है। इसी विश्वास के साथ तो अपना बच्चा तुम्हें सौंपने आई।”

मैं कुछ देर उनकी ओर देखती रही, फिर दीवार की ओर मुंह फेरकर मैंने कहा “...मैं किराये की आया तो नहीं हूं, जो साल-भर लड़के को संभालकर निर्विकार मन से लौटा दूंगी। कलेजे से लगाकर पालूंगी उसे और कल उसकी मां आकर उसे ले जाएगी—न, यह मुझसे नहीं सहा जाएगा। बहुत दुःख उठाए हैं मैंने जीवन में, अब एक और झेलने की सामर्थ्य नहीं है। मैं सुशील को यही सब लिखना चाह रही थी, आप चाहें तो छवि से भी कह दीजिएगा।”

कुछ क्षण कमरा निस्तब्धता में डूबा रहा।

“पद्मा!”

“हूं।”

“इधर देखो।”

“क्या है?”

“अभी तुमने बहुत सारे दुःखों की बात की थी। उनमें से कितने मेरे नाम चढ़े हैं यह जान लेता तो आश्वस्त हो जाता।”

मैंने उनकी ओर देखा, अंतस् का सारा स्नेह आंखों में समेटे वह मुझे ही देख रहे थे। और अचानक मुझे लगा कि यह व्यक्ति निरंतर बारह वर्षों से इसी तरह मेरे सामने बैठा हुआ है। मेरी ध्याना-कथा सुनने के लिए अधीर, मेरे धारों पर मरहम लगाने की आतुर इसकी आखें निरंतर इसी तरह स्नेह बरसा रही हैं। मैं ही पागल की तरह दूर-दूर भागती रही, अपने ही भय से ग्रस्त, तर्कहीन सदेहों से घिरी हुई।

किंतु अगर कोई कहना भी चाहे तो क्या सब कुछ कह पाना इतना आसान है? कुछ कहने को फड़फड़ाए मेरे होंठ और फिर स्थिर होकर रह गए।

उन्हें ही फिर कहना पड़ा, “अच्छे-बुरे क्षण तो सभीके जीवन में आते हैं, लेकिन उन्हें कोई यो अपने साथ नत्थी नहीं कर लेता। तुम्हारे साथ मुसीबत यह है पत्नी, कि तुम भूलती कुछ भी नहीं हो, इसीलिए मन पर एक भार-सा बना रहता है।”

एकदम खीझ उठी मैं, पल-भर पहले तरल हो आया मन एकदम फूटकार उठा, “समझते क्यों नहीं आप, कि हर दुःख क्षणजीवी नहीं होता। कोई आघात ऐसा भी होता है, जो अपनी कसक छोड़ जाता है। कई घाव ऐसे होते हैं, जो अपने व्रण के कारण जीवन-भर याद रहते हैं” उपदेश देना बहुत सरल है आपके लिए, क्योंकि आप नहीं जानते कि सात वर्ष की आयु में पिता को खो देना क्या होता है। कैसा लगता है जब पिता की मृत्यु के साथ ही अपनों के मुखोटे उधड़ने लगते हैं। कितना दुःख होता है जब पिता के साथ मां की शांत स्नेहमयी मूर्ति भी खो जाती है। शेष रह जाती है सिर्फ एक हेड मिस्ट्रेस, जो आतंक की सृष्टि करती है, आश्वस्त नहीं करती।”

यह उठकर कमरे में चहलकदमी करने लगे थे।

“मेरे पास भी बचपन की निश्चल हंसी थी, किशोर कल्पनाओं का सुंदर संसार था, खिलती उम्र के मधुर सपने थे। मां के कठोर अनुशासन में सब कुछ झुलसकर रह गया। सुख-दुःख बंटाने वाली एक बहन थी, शादी

“मजमून वह नहीं है जो आप समझ रहे हैं।”

“तो फिर शायद छवि के बारे में लिखना होगा, ठीक है न?”

“देखिए, मैंने कल भी आपसे कहा था कि मैं उतनी दुष्ट नहीं जितना समझ रहे हैं।” मेरी आवाज़ फिर ऊंची चढ़ गई थी। सूने घर में एक

सी पैदा करती हुई अपनी ही आवाज़ मुझे बड़ी कर्कश लगी।

“यही तो मुसीबत है डार्लिंग, कि तुम उतनी दुष्ट नहीं हो जितना पोज़रती हो।”

मैं तो हैरत से देखती रह गई।

“हम सब जानते हैं कि तुम्हारे पास इतना प्यार, इतनी ममता है कि सर्फ़ उसे छिपाने के लिए तुमने ज़बान पर इतने कांटे उगा रखे हैं; तुम्हारी इस असलियत को सब जान गए हैं। सुशील, शुभा, विभा—यहां तक कि छवि भी तुम्हें पहचान गई है। इसी विश्वास के साथ तो अपना बच्चा तुम्हें सौंपने आई।”

मैं कुछ देर उनकी ओर देखती रही, फिर दीवार की ओर मुंह फेरकर मैंने कहा “...मैं किराये की आया तो नहीं हूं, जो साल-भर लड़के को संभालकर निर्विकार मन से लौटा दूंगी। कलेजे से लगाकर पालूंगी उसे और कल उसकी मां आकर उसे ले जाएगी—न, यह मुझसे नहीं सहा जाएगा। बहुत दुःख उठाए हैं मैंने जीवन में, अब एक और झेलने की सामर्थ्य नहीं है। मैं सुशील को यही सब लिखना चाह रही थी, आप चाहें तो छवि से भी कह दीजिएगा।”

कुछ क्षण कमरा निस्तब्धता में डूबा रहा।

“पद्मा!”

“हूं।”

“इधर देखो।”

“क्या है?”

“अभी तुमने बहुत सारे दुःखों की बात की थी। उनमें से कितने में नाम चढ़े हैं यह जान लेता तो आश्वस्त हो जाता।”

मैंने उनकी ओर देखा, अंतस् का सारा स्नेह आंखों में समेटे वह मुझे ही देख रहे थे। और अचानक मुझे लगा कि यह व्यक्ति निरंतर बारह वर्षों से इसी तरह मेरे सामने बैठा हुआ है। मेरी व्यथा-कथा सुनने के लिए अधीर, मेरे घावों पर मरहम लगाने को आतुर इसकी आखें निरंतर इसी तरह स्नेह बरसा रही हैं। मैं ही पागल की तरह दूर-दूर भागती रही, अपने ही भय से त्रस्त, तर्कहीन सदेहों से घिरी हुई।

किंतु अगर कोई कहना भी चाहे तो क्या सब कुछ कह पाना इतना आसान है? कुछ कहने को फड़फड़ाए मेरे होंठ और फिर स्थिर होकर रह गए।

उन्हें ही फिर कहना पड़ा, “अच्छे-बुरे क्षण तो सभीके जीवन में आते हैं, लेकिन उन्हें कोई यो अपने साथ नत्थी नहीं कर लेता। तुम्हारे साथ मुसीबत यह है पद्मा, कि तुम भूलती कुछ भी नहीं हो, इसीलिए मन पर एक भार-सा बना रहता है।”

एकदम खीझ उठी मैं, पल-भर पहले तरल हो आया मन एकदम फूटकार उठा, “समझते क्यों नहीं आप, कि हर दुःख क्षणजीवी नहीं होता। कोई आघात ऐसा भी होता है, जो अपनी कसक छोड़ जाता है। कई घाव ऐसे होते हैं, जो अपने व्रण के कारण जीवन-भर याद रहते हैं “उपदेश देना बहुत सरल है आपके लिए, क्योंकि आप नहीं जानते कि सात वर्ष की आयु में पिता को खो देना क्या होता है। कैसा लगता है जब पिता की मृत्यु के साथ ही अपनों के मुखौटे उघड़ने लगते हैं। कितना दुःख होता है जब पिता के साथ मां की शांत स्नेहमयी मूर्ति भी खो जाती है। शेष रह जाती है सिर्फ एक हेड मिस्ट्रेस, जो आतंक की सृष्टि करती है, आश्वस्त नहीं करती।”

यह उठकर कमरे में चहलकदमी करने लगे थे।

“मेरे पास भी वचपन की निश्छल हंसी थी, किशोर कल्पनाओं का सुंदर संसार था, खिलती उम्र के मधुर सपने थे। मां के कठोर अनुशासन में सब कुछ झुलसकर रह गया। सुख-दुःख बंटाने वाली एक बहन थी, शादी



के वह भी पराई हो गई। उसकी बरसों तक सूरत भी न देखने दी मां। खुले हाथों विधाता ने रूप लुटाया था मुझे पर, एक ही चीज़ थी जिस-  
र गर्व था मुझे। लेकिन बीमारियों में वह भी उजड़कर रह गया है।  
तान भी दी है ईश्वर ने तो दोनों लड़कियां, कल को अपने घर चली  
जाएंगी तो बस, बैठकर रोना ही तो है मुझे। यही तो लिखाकर लाई  
हूं।”

और एक दीर्घ उसांस लेकर मैं चुप हो गई। इतना थक गई थी जैसे  
मीलों का सफर तय करके आई हूं। घूमते हुए यह एकदम मेरे पास आकर  
खड़े हो गए थे, “पद्मा !”

“हां।”

“और शेखर दा की बात नहीं कहोगी?”

शेखर दा की बात। मुझे तो जैसे काठ मार गया।

“अपनी गाथा का जो सबसे दुःखद, लेकिन सबसे महत्त्वपूर्ण अध्याय है  
जो, उसे ही भूल गई?”

मैं विजली की तरह उठ खड़ी हुई, “किसने बताया आपको यह सब ?  
मां ने ? रमा ने ?... या शेखर दा ने ?”

“मां ने कब तुम्हारे मन में झांककर देखा है ? रमा को ही कब इतना  
अवकाश मिला है, और शेखर दा, उनके पास यह सब देखने वाली आंखें ही  
होतीं, तो कहानी कुछ और ही नहीं होती आज ?”

“फिर कहां से जान गए आप सब ?”

“तुमसे। इस तरह चाँको मत, पद्मा। तुम्हारे स्वभाव की ये अने  
विसंगतियां खुद अपनी कहानी कहती रही हैं, और साथ में तुम्हारी व्य-  
में डूबी आंखें, खोया हुआ आत्मविश्वास, तुम्हें हरदम कोंचता हुआ तुम्ह-  
होनवोध, मुझे प्रसन्न रखने के तुम्हारे हास्यास्पद प्रयास, मुझे खो देने  
तुम्हारा तर्कहीन भय—सभी कुछ तो मेरे सामने था, मैं बेवकूफ न-  
पद्मा। शेखर दा की तरह अंधा भी नहीं हूं। बहुत पहले जान लिया था  
रमा का जिक्र छिड़ते ही तुम समूची ईर्ष्या से सुलग, उठती हो। शेख-



कमरे के वातावरण में एक उमस-सी भर गई थी। मैंने पंखा फुल स्पीड पर खोल दिया। फिर खिड़की के पास खड़ी होकर बड़ी देर तक खुली हवा में सांस लेती रही।

यह धीरे-धीरे तैयार हो रहे थे।

“कहीं बाहर जा रहे हैं?”

“हां, आर० टी० ओ० ऑफिस जाऊंगा ज़रा, लाइसेंस रिन्यू कराना है।”

मैं समझ गई, उतनी बड़ी बात कह जाने के बाद कमरे की उमस उन्हें भी व्याप्त गई थी।

“जाने से पहले एक बात सुनेंगे?”

“कहो।” उन्होंने जूतों के तस्मे बांधते हुए जवाब दिया।

“विश्वास कर सकेंगे?”

“कहो तो।”

“बहुत पहले मैंने एक सपना देखा था। कच्ची उम्र में सभी लड़कियां इस तरह के सपने देखती हैं, तब लगता है जीवन का संपूर्ण सत्य यही है, बाकी सब शून्यवत् है। इस उम्र के सपने ऐसे सर्वव्यापी ही होते हैं। पता नहीं कितने सालों तक उसे अपने गले का हार बनाए रखी। फिर जानते हैं

क्या हुआ ? सुशील की शादी में उन्हें इतने दिनों बाद देखा और अवाक् रह गई । क्या यही है वह अलौकिक व्यक्तित्व, जिसके लिए मैं मोरां बनी हुई थी ? यह नितांत साधारण व्यक्ति रमा का पति-भर हो सकता है । आलोक का पिता हो सकता है । मेरा स्वप्न-पुरुष फिर कहा खो गया ? हैरान थी मैं ।”

“कैसा लगा था तब ? बहुत दुःख हुआ ?”

“नहीं, एक रीतेपन का अहसास-भर हुआ, वस । कितना आश्चर्य है न ।”

वे उठकर मेरे पास आए, दोनों कंधों पर हाथ रखते हुए बोले, “इसमें आश्चर्य तो कुछ भी नहीं है । जीवन में कितनी ही चीजें तुम्हारे हाथों से फिसलती रही हैं । उनमें एक और नाम जुड़ गया । सिर्फ एक बात याद रखो पद्मा, कि सब कुछ खो जाने के बाद भी तुम देखोगी कि मैं तुम्हारे पास हूँ, हमेशा से था । इट इज ए प्रॉमिज ।”

और यह अंतिम बात कहते-कहते उनकी आवाज भारी हो आई थी । मैंने हीले से उनके हाथ हटाते हुए कहा, “बाहर जा रहे थे न आप ?”

“सो तो जा रहा हूँ ।” वह चलने को हुए और फिर जैसे कुछ याद आ गया उन्हें । दरवाजे के बाहर से बोले, “सुबह आलोक का टेलिग्राम आया था । दराज में है, देख लेना ।”

“आलोक को तार देने की क्या जरूरत पड़ गई ?” मैंने पूछा, लेकिन तब तक वह जा चुके थे ।

दराज खोलकर मैंने वह गुलाबी कागज निकाला, सफेद पट्टी पर काले अक्षर चमक रहे थे—

“पापा इज नो मोर ।”

## प्रतिदान

“अम्मा ? आज पूर्णमासी है, तुम कुछ करने के लिए कह रही थीं ?”

“क्या सचमुच आज पूर्णमासी है ?”

“हां, तुम्हें अब क्या तिथियां भी याद नहीं रहतीं, अम्मा ?”

“नहीं रे...सोच रही हूं कि एक महीना हो गया। और उस दिन सोच रही थी कि उसके बिना एक दिन भी नहीं जी सकूंगी...”

“अम्मा...”

इसके बाद कान तो कुछ नहीं सुन सके, पर मेरी कल्पना की आंखों ने देख लिया कि मां का सिर बेटे के कंधे पर टिका है और दोनों निःशब्द रुदन में डूब गए हैं। मन कैसा-कैसा हो आया ! मैं भारी कदमों से रस्ते की ओर मुड़ गई।

दरअसल मैं इनसे एक बहुत ही जरूरी बात कहने गई थी। आज सुबह नहाते समय एक दर्द की लहर शरीर में दौड़ गई थी—वही चिर प्रतीक्षित आशंकित लहर। मैंने सोचा था, इनके दफ्तर जाने से पहले नर्सिंग होम चलकर चेक करा लेते तो ठीक था। पर ठीक इसी समय उद्धव का प्रसंग छिड़ जाना मुझे बड़ा अशुभ-सा लगा। एक खीझ-सी हुई मन में। क्या मरने के बाद भी उसका साया हमारी गृहस्थी के ऊपर मंडराता रहेगा ?

मेरे इस घर में आने से पहले ही उद्धव मेरे जीवन में आ गया था। अपनी सबसे प्यारी साड़ी पहनकर मैं इनके साथ घूमने गई थी। 'नंदनवन' की हरी-हरी दूब पर बैठते ही इन्होंने बिना किसी भूमिका के कहना प्रारंभ कर दिया था, "संध्या, शादी से पहले मैं अपने घर का चित्र तुम्हारे गामने रखना चाहता हूँ। मेरा बहुत छोटा-सा परिवार है। माँ हैं, जिन्होंने लाख मुसीबतें झेलकर मुझे इस काबिल बनाया है। हमरा है उद्धव, मेरा छोटा भाई—१५ वर्ष की कच्ची उम्र में ही बस-दुर्घटना में उसके दोनों पैर बेकार हो गए हैं। पाच वर्षों से वह विस्तर पर है (यहा इनकी थांघें भर आई थी), मेरे और अम्मा के आधे प्राण उमीमें बसते हैं। मुझे ऐसी पत्नी चाहिए जो मेरी इन जिम्मेदारियों को खुशी-खुशी बाट सके। तुममें हो मकेगा यह सब?"

इन्होंने प्रश्न-भरी आंखों से मुझे देखा था। इनके कारण सम्मोहन ने मुझे बाध लिया और उस अनजान अपंग युवक के प्रति मन ममता में भर उठा। यह तो उमी दिन जान गई कि इनके अंदर का पुत्र और भाई इन-पर मदा हावी रहेगा। तब तो इसी बात पर मुग्ध होकर अतर्पण से इन्हे बर लिया था, और अपने मानस में राम और लश्मण के साथ नित्य नये विनोद की कल्पना में विवाह की तिथि को जोड़ती रही।

शादी इनके ताऊजी के यहाँ हुई। इस खुशी के मौके पर भी माजी ने अपने बीमार बेटे का साथ नहीं छोड़ा और मेरे मन में उनका आसन और ऊँचा उठ गया।

लोकाचार जैसे-तैसे निबटाकर हम लोग पहली बार घर आए थे, वह दिन आज भी भूलता नहीं है। पड़ोसी गिरिजा बाबू स्टेशन पर हमें लेने आए थे। उन्होंने बताया कि नई भाभी को लेकर उद्धव के आनंद और उत्कंठा की सीमा नहीं है। माजी के पीछे पड़कर उसने पूरे मकान की मफेदी करवाई है। शादी की रात मुहल्ले की औरतों को बुलाकर रतजगा भी करवाया है। वंदनवार उमने खुद अपने हाथों बनाए हैं।

तांगा रक्ते ही मैंने देखा, वंदनवारों में सजा, लिपा-मुता घर अपनी

स्त दीनहीनता लिए सामने खड़ा था। भाग्य के थपेड़ों के बीच दो  
हाथ वालकों के साथ जिंदगी की राह पर चलने वाली मांजी का प्रतीक-  
ही लगा वह मुझे।

दरवाजे पर संभवतः पड़ोस की किसी सुहागिन ने हम लोगों की आरती  
तारी। वही मुझे भीतर ले गई।  
घर में घुसते ही यह कोने में लगे पलंग की ओर लपके और "भैया" की  
पुकार के साथ दोनों एक-दूसरे से लिपट गए। किसी रामलीला में देखे भरत-  
मिलाप का दृश्य मेरी आंखों के सामने सजीव हो उठा। फिर उन्होंने मुझे  
खींचकर उसके सामने खड़ा कर दिया और कहा, "देख, अपनी भाभी तो  
देख; बोल ! पसंद आई कि नहीं?"

"भाभी" कहते हुए उसने मेरे दोनों हाथ पकड़ लिए। उस स्पर्श से  
सिहरकर मैंने अपनी लज्जानत आंखें उठाकर ऊपर देखा।

मेरी कल्पना का उद्भव यह नहीं था। मेरी कल्पना का उद्भव सिनेमा  
और उपन्यासों का मरीज था—लाख कण्टों के वावजूद जिसके चेहरे की  
कांति अक्षय रहती है, वेदना और यंत्रणा जिसे और आकर्षक बना देती है।  
मेरे सामने जो उद्भव था, वह यथार्थ का उद्भव था। किशोरावस्था में  
ही अपंग हो जाने के कारण वह बुझ-सा गया था। अपनी विवशता की पीड़ा  
और कर्मण्यता का अहसास अभावों में पले उसके कंकालप्राय चेहरे को  
और भी कठोर बना गया था। हृदय से न सही, पर उसे अपनी समस्त  
आंतरिकता के साथ मैं ग्रहण न कर सकी। अपनी कल्पना का यह विद्रूप  
मुझसे सहा नहीं गया। एक वत्सल सीता, एक फ्लोरेस नाइटिंगेल आविर्भा  
से पूर्व ही विलीन हो गई।

पता नहीं किस संवेदन शक्ति से उसने मेरे मन को पढ़ लिया और मे  
हाथों को थामने वाले उसके हाथों की गरमी धीरे-धीरे लुप्त हो गई। उस  
मेरे हाथ छोड़ दिए। "मुझे लिटा दो अम्मा, मैं बहुत थक गया हूँ," क  
कर उसने आंखें मूंद लीं।

उसकी इस आवाज़ पर पता नहीं कहां से मांजी निकल आई

उन्होंने उसे लिटा दिया। इनका इशारा पाकर मैंने उनके पांव छुए, पर सिर पर जरा-सा हाथ रख देने के अतिरिक्त उनके मुंह से आशीर्वाद के दो शब्द भी न निकले। एक जबरदस्त अपेक्षा-भंग का वातावरण घर में छा गया था—हम सबके सपने कपूर की भांति उड़ गए थे। मुझे इस बारे में कभी भी किसीने कुछ नहीं कहा। मैं हमेशा सफाई देने के लिए छटपटाती रही, पर बिना अभियोग के सफाई कैसी?

पम्मी के जन्म के बाद वस इन्होंने इतना कहा था, “एक बार इसे अम्मा को दिखा लाते।” इस बार घर जाने पर मैंने अपने मधुर व्यवहार से माजी का मन मोह लिया। पम्मी तो जैसे उनके गले का हार बन गई थी। अपनी पिछली भूलों का प्रायश्चित्त करने के लिए कृतसंकल्प मैं माजी को माथ ले चलने के उपाय कर रही थी। मुझे मालूम था कि इनके मन में हमेशा यह इच्छा रही है। बगने के उस मुनिश्चित कोने की तरह इनके मन का कोना भी खाली-खाली रहता था, यह भी मैं जानती थी। इसलिए उद्धव को भी इस बार मैंने शिकायत का मौका नहीं दिया। उसने कभी कोई उत्सुकता नहीं दिखाई। बीमार व्यक्तियों का अह वैसे भी भारी होता है। पर मैं अपने कर्तव्य-बोध से सब कुछ कर रही थी।

मुझे पुरानी थी कि इस बार दिन खरियत से गुजर रहे हैं।

शायद चौथे या पांचवे दिन की बात है। मैं नहा रही थी। दो कमरों का छोटा-सा घर था। रसोई बंद करके नहाना पड़ता था। तभी मैंने सुना, उद्धव कह रहा था, “अम्मा, भाभी कहा है?”

“नहा रही है। क्यों रे?” माजी ने पूछा। मुझे भी आश्चर्य हुआ कि आज मेरी क्या जरूरत पड़ गई।

“एक बार गुड्डी को मुझे दो न अम्मा?” कुछ क्षण खामोशी रही। “अम्मा, वस थोड़ी-सी देर को।”

इस बार उसके स्वर में बला की आजिजी थी। शायद तभी तो मांजी में नहीं रहा गया होगा। उसका असीम दैन्य मुझे खल गया। मुझे छिपाकर मेरी बच्ची को देखने का प्रस्ताव ऐसा ही कुत्सित लगा, जैसे मेरी अनु-



पस्थिति में किसीने मेरे जेवरों का बक्स खोल लिया हो। उसके कंकालप्राय खुरदरे हाथों द्वारा पम्मी के शरीर के सहलाए जाने की कल्पना से मैं सिहर उठी। क्या पता उसने अपने घिनौने मुख से उसे चूम भी लिया हो।

पता नहीं कौन-सी बात मेरे मन में गड़ गई कि किसी तरह वेतरतीबी से साड़ी पहन मैंने दरवाजा खोल दिया और झपटकर उसकी गोद से पम्मी को उठा लिया। उसे छाती से लगाए मैं मुड़ी ही थी कि मांजी से आंखें मिल गईं। बेटे का अपमान वहां प्रतिविवित हो उठा था। पता नहीं वहां क्या-क्या था—क्रोध, अपमान घृणा—पर मेरा साहस न हुआ कि उनकी ओर देख सकूं।

घर की यह मेरी अंतिम यात्रा थी। यह तो हर दूसरे-तीसरे महीने जाते और एक उदासी की पर्त-सी ओढ़कर वापस आ जाते। कई बार मन हुआ कि जाकर उसे देख आऊं। उन लोगों की गलतफहमियां दूर कर आऊं, पर अपने पर से विश्वास ही जैसे उठ गया था।

विधि का विधान भी कैसा है? उसके अंतिम समय भी जाना न हो सका। वह ही गए और आते समय मांजी को ले आए। जो कमरा वर्षों से उद्धव और मांजी की प्रतीक्षा करता रहा था उसमें मांजी अकेली आई थीं। उनके साथ आई थी शोक की एक काली छाया, जो निरंतर घर पर छाई रहती। उनके आते ही घर एकदम छोटा हो गया था और प्रच्छन्न रूप से दो दिलों में वंट गया था। मैं कितनी अकेली पड़ गई थी?

“संध्या, तुम्हारा जी कैसा है?”

मैंने चौंकर देखा, कुरसी की पीठ पर हाथ रखे यह खड़े थे। “इधर से गुजरा तो देखा डाइनिंग टेबल पर सिर रखे सो रही हो। पहले तो सोचा सो लेने दो, पर देखता हूं चेहरा बेहद उतरा हुआ है—खैरियत तो है?”

“मेरा खयाल था—एक बार नर्सिंग होम हो आते।”

“जरूर, जरूर,” वे बोले और तेजी से बाहर निकल गए। कुछ ही देर में हम लोग गाड़ी में सड़क नाप रहे थे। तब खयाल आया, चलने से पहले

मांजी से कहना चाहिए था पर घबराहट में याद न रहा ।

नर्सिंग होम पहुंचने-भर की देर थी । उन लोगो ने मुझे हाथोहाथ लिया और दूसरे ही क्षण मैं प्रसूति-कक्ष में थी । मुझे मिस्टर के हाथ सौंपकर यह चने गए थे—दफ्तर या क्या पता बाहर ही बैठे हों । सफेद कपड़ों में लिपटी उन नर्सों के बीच मैं अपने-आपको नितांत असहाय और अकेला अनुभव करने लगी । पम्पी के समय की यादे अपनी सारी यहशत के साथ मुझपर हावी हों गई और मेरा दम घुटने लगा । उसी समय दरवाजा खुला और डॉक्टर अलकारानी ने कहा, “मिसेज थ्रीघर, आपकी सास आई है ।”

मैंने देखा, मांजी अपराधी-सी मुद्रा में सिरहाने खड़ी है । “मुझसे रहा नहीं गया । बिटिया दुलारी को साथ लेकर चली आई ।”

“ठीक है ।” मैंने कहा । मुझे बड़ी शर्म आ रही थी । घर से निकलते समय इनसे कहकर भी नहीं आ सकी थी ।

उसी समय दर्द की एक लहर उठी और मैंने “ओ मां” कहकर मांजी के दोनों हाथ पकड़ लिए । पीड़ा के वे क्षण बीत जाने पर भी मुझे याद रहा कि वे दुबले-खुरदरे हाथ अजीब-सी ममता से भीगे हुए थे । उस समय भी वह माया सहला रही थी और मुझे अच्छा लग रहा था ।

दर्द के वे क्षण कितनी बार दोहराए गए । मांजी हर बार मेरे साथ पसीने से नहा आती थी, मानो मेरी पीड़ा को वह अणु-अणु के साथ अनुभव कर रही थी । डॉक्टर ने दो-तीन बार आदर से, फिर कुछ हवाई से उनसे धीरज रखने के लिए कहा । एक बार तो दबी जवान से बाहर बैठने का भी अनुरोध किया । पर मैं उन्हें दृढ़ता से पकड़े रही । उन भावविहीन चेहरों के बीच उन्हींका चेहरा तो था जो मेरी वेदना से विह्वल हो रहा था । मेरी पीड़ा को एक अकेली वह ही तो समझ रही थी, क्योंकि सृजन की यह पीर उन्होंने भी सही थी ।

फिर एक अजीब-सा विचार मन में आया । जिसे इतनी पीड़ा के साथ जन्म दिया गया हो, उसे अपनी ही आखों के सामने तिल-तिलकर मृत्यु के मुख में जाते देखना कितना दुःख देता होगा ? किस तरह सहा होगा उन्होंने उसे ?

कौन-सी पीड़ा अधिक कठिन है—जन्म की या मृत्यु की ? पाने की या खोने की ? अपने विचारों के रेले में मैं देख रही थी कि डॉक्टर और नर्स दोनों के चेहरे वदहवास-से लग रहे थे । मैं अपने-आपको किसी वर्फीले प्रदेश में जाते हुए देख रही थी । वे लोग विचित्र दृष्टि से मुझे घूर रहे थे । हर पांच मिनट पर तड़पा देने वाली वे दर्द की लहरें पता नहीं कहां खो गई थीं । उनकी प्रतीक्षा में कमरे में एक तनाव-सा भर गया था ।

मुझे मम्मी बेतरह याद आ रही थीं । वह हमेशा कहती थीं कि डिलीवरी में दोनों का जन्म होता है—मां और बेटे का । तभी तो ४२ वर्ष की उम्र में शिशु को जन्म देने की पीड़ा उनसे सही नहीं गई । ऑपरेशन रूप से बाहर लाते हुए स्ट्रेचर पर उनका सफेद निष्प्राण चेहरा बार-बार आंखों के सामने आ रहा है ।

कैसा होता होगा मरण-पार का देश ? क्या वहां जाने पर मम्मी से फिर भेंट हो सकेगी ? और उद्धव, क्या वह भी मिलेगा ? उसकी कठण-असहाय आंखों का अभियोग क्या अब भी उतना ही ताज़ा होगा ? अपनी सफाई में मुझे क्या कहना होगा ?

स्स...इंजेक्शन की जैसे कई एक सुइयां चुभो दी गई हों, पर मेरी चेतना लौट आई । और कम्बख्त वही दर्द फिर उभर आया । सफेद कमरा, सफेद चमकीले बल्ब, सफेद वस्त्रों में लिपटी नर्सें, सब जैसे घूम गए । केवल दो दुबले-खुरदरे हाथ स्थिर थे, जो मेरे माथे पर थे ।

शिशु के कर्कश रुदन से कमरा भर उठा, तनाव टूटने लगा था और हर चीज़ जैसे फिर अपनी जगह पर लौट आई थी ।

डॉक्टर अलका कह रही थी, “मांजी, मुवारक हो, पोता हुआ है ।”

मांजी ने हाथ जोड़कर कहा, “वह तो जो भी है, भगवान की देन है, पर आपने मेरी बेटी को बचा लिया...” इससे आगे वह कुछ न कह सकीं । उनका गला रुंध गया । सिस्टर ने उन्हें सहारा देकर बिठा दिया ।

थकान से बोझिल पलकें उठाकर मैंने देखा, उनका चेहरा भी बेहद थका हुआ लग रहा था । जैसे पीड़ा का हर क्षण उन्होंने मेरे साथ जिया



## आनन्दी

गाड़ी में अकेले बैठे-बैठे मैं दोर हो चली थी। धूप में चिलचिलाती हुई सड़क को पार करके मेरी आंखें बार-बार उस इमारत से टकरा जाती थीं, जिसमें वह छोटी-सी डिस्पेंसरी थी—जहां सुन्दरसींग सुवकती हुई पूनम को लेकर गया था। अजीब-सा माहौल था वहां का, ऊपर की दोनों मंजिलों में छोटे-छोटे कबूतरखानेनुमा फ्लैट्स बने हुए थे। नीचे ढेर सारी दुकानें थीं। मोहन डेरी, शिव शंकर पान भंडार, कृपाल टी हाउस, एवरेडी लांड्री, न्यू स्टाइल हेयर ड्रेसर्स और भी न जाने क्या-क्या। उन सबके चमकते साइनबोर्ड्स की भीड़भाड़ में डॉ० आहूजा की वह छोटी-सी सफेद नेमप्लेट खो-सी गई थी। सुन्दरसींग का ध्यान न जाता तो शायद हम लोग यहां रुकते भी नहीं।

पता नहीं कैसी क्या डिस्पेंसरी है, साथ चली जाती तो ठीक था। यहां बाहर बैठे-बैठे मेरी खीझ धूप के साथ क्रमशः बढ़ रही थी। सबसे ज्यादा गुस्सा तो इस शैतान छोकरी पर आ रहा था। अपने खेल-खिलौने छोड़कर वहां कबाड़खाने में आने की क्या जरूरत थी ! पता नहीं उसे सामान अनपैक होते हुए देखने में क्या मजा आता है। बैठे-बिठाए हो गईं न मुसीबत। कितनी बड़ी लोहे की पत्ती थी, सीधी धंसती ही चली गई पैर में। वच्ची की स्किन तो होती ही नाजुक है। ओफ, कितना खून निकला था ! मुझे

तो चक्कर-सा आने लगा था देखकर। वह तो पता नहीं सुन्दरसिंग ने ही क्या-क्या लगाया तब जाकर खून चन्द हुआ था।

इतना गुस्सा आता है इनपर। इस अजनबी शहर में लाकर पटक दिया और चल दिए दूर पर। वस, कह दिया, “अरे भाई, अभी तो सुन्दरसिंग है चार-पांच दिन तक।” उसे भी तो मैं ही ज़िद करके लाई हूँ। यहाँ वालों के भरोसे रहती तो घर सेट करने में छ महीने लग जाते। पता नहीं कैसे लोग हैं, ज़रा भी मुरखवत नहीं, मुलाहिजा नहीं। अदब-कायदा तो जानते भी नहीं। सच, छोटी जगहों में इन बातों का बड़ा आराम होता है।

और पड़ोसी भी किस कदर रूखे हैं, इतना रोना-पीटना हो गया, पर कोई झक्का भी नहीं। वहाँ होते तो अभी सारी कॉलोनी जुड़ जाती। अस्पताल तक मुझे आना भी न पड़ता और जाती भी तो क्या इस तरह टुकुर-टुकुर सड़क तकती बैठी रहती! खुद डॉक्टर साहब आकर भीतर लिवा जाते।

“हुजूर। डॉक्टर साहब अन्दर बुला रहे हैं।”

मैंने चौककर सिर उठाया। सुन्दरसिंग सचमुच खड़ा हुआ था। खिड़की के पास उसने दुबारा अपना सदेश दुहराया तो मैंने पूछा, “मुझे क्या बुला रहे हैं। फीस के पैसे तो दिए थे न तुझे। और बेबी कहा है?”

“बेबी अभी अन्दर ही हैं। डॉक्टर साहब कुछ पूछ रहे थे। मैं समझ नहीं पाया। हुजूर खुद चली जाएं तो अच्छा हो।”

भुनभुनाते हुए गाड़ी से उतरकर मैंने सड़क पार की। सीढ़ियाँ चढ़ने ही दवाइयों की मिली-जुली तेज़ गंध से मेरा माथा घूम गया। किमी तरह अपने ऊपर काबू पाकर मैंने भीतर प्रवेश किया। सामने डॉक्टर की कुर्सी खाली थी और दोनों ओर दीवार से लगी बेंचों पर मरीज़ बैठे हुए थे। कोने वाली एक बेंच पर पूनम लेटी थी। उसके पाव में बड़ा-सा बँडेज बंधा था। उसके सिर एक अपरिचित महिला की गोद में था और वह थकी-सी आवाज़ में रह-रहकर ‘मम्मी’ की रट लगाए हुए थी।

मेरी सारी खीझ, सारा गुस्सा पता नहीं कहा चला गया। मैंने लपक-

कर उसे गोद में उठा लिया और वहीं बैठकर उसे दुलारने लगी। मुझे देखकर उसकी रुलाई फूट पड़ी और मैं उसे पुचकारने लगी।

वह महिला मुझे लगातार घूरे जा रही थी। मेरी दृष्टि पड़ते ही बोली, "आप इसकी मम्मी हैं? फिर आप बाहर क्यों बैठी रह गई थीं?"

उसकी घृष्टता पर मुझे बहुत गुस्सा आया। अपनी नाराजी को भरसक चेहरे पर उतारते हुए मैं चुप बनी रही।

उसने फिर कहा, "आपको साथ आना चाहिए था। बहुत रोई थी बेचारी। मां साथ रहे तो बच्चों को धीरज बंधता है। नौकर तो नौकर ही होते हैं।"

मैंने फिर भी कोई जवाब नहीं दिया और उठकर डॉक्टर साहब के मेज के पास खड़ी हो गई। कमबख्त सुन्दरसिंग भी बाहर बैठा रह गया था। साथ रहता तो कम से कम इस देवीजी को बतलाता तो, कि वह किससे बात कर रही हैं और कैसे बात करनी चाहिए। अभी कुछ देर पहले पूनम को उनकी गोद में देखकर धन्यवाद देने की बात मन में उठी थी पर अब तो कोई सवाल ही नहीं था।

एक हिकारत-भरी नज़र उस ओर फेरकर मैंने आवाज़ को यथाशक्ति दबंग बनाते हुए डॉक्टर साहब से पूछा "आपने बुलाया था?"

डॉक्टर साहब अभी-अभी भीतर से आए थे, तौलिये से हाथ पोंछते हुए बोले, "देवी को ए० टी० एस० लगाना बहुत जरूरी है। पहले कभी लगाया है यह इंजेक्शन?"

"ठीक से याद नहीं है। आज-भर राह देख लीजिए। कल तक शायद इसके डंडी आ जाएं।"

"बेट करने की तो कोई जरूरत ही नहीं है। रिएक्शन देखे लेते हैं।" डॉक्टर साहब ने कहा और नर्स को सिरिज लाने का ऑर्डर दिया। सारी तैयारी देखकर पूनम ने मुझे कसकर पकड़ लिया और सहमी-सहमी नज़रों ने डॉक्टर की ओर देखने लगी। तब मुझे भी भान हुआ कि उतने बड़े ज़लम का ड्रेसिंग करते समय वह कितना तड़पी होगी, घबराई होगी? मैं

रही दिलेरी से इजेक्शन के दोनों राउंड्स में उसे घामे रही। पर जिसे देखाने के लिए यह सब कर रही थी वह तो उसे टा-टा करके कच की जा चुकी थी।

घर लौटकर सुन्दरसींग ने बताया कि बेबी बहुत घबरा गई थी। वह तो उन बहनजी ने बातों में उन्हें बहलाए रखा नहीं तो बहुत मुसीबत हो जाती। सुनकर मैं उल्टे उसीपर बरस पड़ी। "बेवकूफ, मुझे भी तो आवाज दे सकता था ! बेकार किसीके अहसान लेने की क्या जरूरत थी ?"

दूसरे दिन सुबह सवेरे ही यह लौट आए। मैं तो भरी चंडी थी। उनके घर में पाव रखते ही बरस पड़ी। महानगर ने दो दिन में ही मुझे पस्त करके रख दिया था। यहा का मकान, यहा का नौकर, यहा के पड़ोसी, यहा के डॉक्टर—सभीसे मुझे नफरत हो गई थी। यह खुद तो ऑफीसर बने मोज मार रहे थे और यहा सारी समस्याओं से मैं अकेली ही जूझ रही थी। दर्जो, घोवी, डॉक्टर, मास्टर सभीका इन्तजाम मुझे ही करना था। कम से कम मेरी नाजुक हालत का ही खयाल किया होता "

कुछ देर तक तो यह चुपचाप मेरा भाषण सुनते रहे। फिर एकदम ताव छाकर उठे और सुन्दरसींग को लेकर बाहर निकल गए। चाय तक नहीं पी। आधे घंटे बाद लौटकर आए और बोले, "कम्पाउंडर साथ लेता आया हू, पूनम की ड्रेसिंग करवा लो। और शाम को पाच बजे टीचर आएगी, बच्चों वाला कमरा सैट करके रख देना।"

'टीचर की इतनी क्या जल्दी थी ?' मैंने कहना चाहा पर वै अवाउट टर्न कर गए थे। उनका कसैला स्वर सुनकर ही समझ गई थी कि अब चुप रहने की बारी मेरी है। दरअमल मुझे ही कुछ मद्र से काम लेना था। जाते ही उनका मूड घराब कर दिया।

शाम ठीक पाच बजे दरवाजे की घटी बजी। सुन्दरसींग दरवाजा खोलने गया तो बड़ा पुश-पुश लौटा। "हुजूर, यह तो वही अस्पताल वाली बहनजी हैं। चलिए अच्छा हुआ, बेबी को उनसे डर नहीं लगेगा।"

मैंने उत्सुकतावश कमरे में झांककर देखा, हमारी उपदेशिका जी



सहमी-सिमटी एक कुर्सी पर बैठी थीं और कमरे के साज-समान को अवाक़ होकर देख रही थीं। मुझे लगा था, मुझे देखकर वह सकापका जाएंगी। पर कहां ! वह तो एकदम प्रसन्न मुद्रा में उठ खड़ी हुई और मुस्कराते हुए बोली, "देखिए न बहनजी, कैसा संयोग है। कल ही आपसे परिचय हुआ, आज यहां भेंट हो गई। सुबह डॉक्टर साहब का सन्देश मिला, तब तो यह कल्पना भी न थी, कि हम अपनी नन्हीं सहेली के यहां जा रही हैं।"

"आपको डॉक्टर साहब ने भेजा है?"

"हां, सुबह शायद साहब ने उनसे बात की होगी।"

"ओह तभी !" नहीं तो मैं खुद हैरान थी, कि इतनी जल्दी इन्हें टीचर कहां से मिल गई।

"बेबी कहां है?"

"उसे तो अभी रहने दीजिए। आप तो अभी पप्पू को, मेरा मतलब है पुनीत को ही तैयार कीजिए। यहां सुनते हैं सभी बड़े स्कूल में पहले टेस्ट लेते हैं, तभी एडमिशन मिलता है।"

उतनी देर में सुन्दरसिंग पूनम को गोद में उठाकर ले आया था और वह परिचित चेहरा देखते ही किलक पड़ी थी। "नमस्ते बांटी" उसने कहा और उनके गले में दोनों बांहें डालकर झूल गई।

"तुम्हारा पांव अब कैसा है बेबी?"

"दुखता है." पूनम ने चेहरे को सतबटों से भरते हुए उत्तर दिया, "पर पता है, आज मैं रोई नहीं। दवाइ लगाने लाए थे न, तब भी नहीं रोई। है न नन्मी?" उसने गवाही के लिए मुझे पुकारा। पर मैं कुछ नहीं बोली।

"अरे बाहू, हमारी पूनम तो बहुत रोती है।"

"आप उसे लार्ड क्यों नहीं?"

"उसे बहुत-बहुत अच्छा प्यो है। लगता है। वन, दिन-भर खेलता और खाना। दूसरे जोड़े बात ही नहीं।"

"मैं तो कुछ खूब रोती हूँ न नन्मी?" उसने हुंकारा मुझे गवाही मंगी। इन बातों को सुने हमने मरती हो रही।

“जाओ, अपनी किताबें लाओ और भैया को बुला लाओ।”

सुन्दरसौग की गोद में बैठकर जब वह चली गई तो मैंने पूछा, “आपकी बेबी का नाम भी पूनम है?”

“नहीं, मैं तो मजाक कर रही थी। बेबी का मन बहला रही थी।”

“कितने बच्चे हैं आपके?”

“दो लड़कियां हैं, बस्स !”

“और लड़का?”

उन्होंने सिर हिलाकर नकारात्मक उत्तर दे दिया।

“अरे !” बिना वजह मेरा स्वर सहानुभूति से आद्रं हो उठा।

“क्या फर्क पड़ता है बहनजी।” मेरी सहानुभूति को व्यर्थ करते हुए उन्होंने लापरवाही से कहा, “यहां कौन पेशवाओं की जागीर पड़ी हुई है, कि उसके लिए वारिस जरूरी है। अपने लिए तो दोनों बराबर हैं।”

उनका यह बेफिक्र लहजा मुझे ईर्ष्या से भर गया। यहां तो इतना निश्चित होना कभी आया ही नहीं। पुनोत् के बाद पांच साल तक बच्चा घर में नहीं आया तो मैं घबरा उठी थी। इस बार लगता है, कि बहुत जल्दबाजी हो गई है। पता नहीं कैसे सम्भाल पाऊंगी। पूनम के वक्त डर लग रहा था कि कहीं फिर से लड़का न हो जाए। अब लगता है, कि फिर लड़की हो गई तो—एक चिन्ता दहेज की ही मुझे रात-रात सोने नहीं देती। इनसे तो कुछ भी कहो मजाक में टाल देंगे।

रात मैंने कहा, “सुनिए, टीचर ढूढ़ने में तो आपने बहुत फुर्ती दिखाई है। उसकी क्वालिफिकेशनस का तो पता कर लिया था न !”

“तुम्हारे लड़के को सिक्स्थ में एडमिशन चाहिए न ! इतना तो उसे आता ही होगा। माई डियर लेडी, शी इज ए रेग्यूलर टीचर।”

“तभी तो, बहनजी, बहनजी कहती रहती है। इतना ऑकवर्ड लगता है।” अब मैंने अपने मन की असली बात प्रकट की।

“तो क्या कहकर पुकारे कोई आपको ? मंडम ?” इनके स्वर में व्यंग्य का पुट था। “दरअसल कुमुद जी, महत्त्वपूर्ण यह है कि आप उन्हें क्या कह-

कर पुकारती हैं। तुम्हें तो मालूम है डियर, इस घर में मैं किसी भी टीचर का अनादर वर्दाश्त नहीं कर सकता।”

“मालूम है बाबा, कितनी बार एक ही बात कहेंगे।” मैंने वेजारी से कहा और उनके इस प्रिय विषय को बन्द कर दिया। नहीं तो अभी रामायण खोलकर बैठ जाएंगे कि हमारे पिताजी हेडमास्टर हैं, हमारी बुआ टीचर थीं, चाचा टीचर थे। हमारे नाना संस्कृत के पंडित थे और मामा फारसी के विद्वान हैं—पता नहीं मास्टर्स के परिवार में ये अनोखेलाल कहां से पैदा हो गए?

और इतना अभिमान है इन्हें अपने खानदान का कि हर किसीके सामने वचन की गाथा लेकर बैठ जाएंगे। कभी-कभी तो मेरी पोजीशन इतनी विचित्र हो जाती थी...

वच्चों की टीचर को पुकारने की सचमुच एक समस्या थी। ‘बहन जी’ मेरी जवान पर चढ़ता नहीं था और मुसीबत यह थी कि उनका नाम तक हमें मालूम न था। डॉक्टर साहब ने शायद इन्हें बताया भी हो पर वह उस दिन इतने तैश में थे कि बाहर आते ही सब कुछ भूल गए।

दो-चार दिन बाद मौका लगने पर मैंने ही पूछ लिया, “आपको क्या कहकर बुलाया जाए?”

मेरा प्रश्न समझने में उन्हें कुछ समय लगा। फिर धीरे से बोलीं, “कहने को तो लोग मुझे मिसेज आचार्य भी कहते हैं। वैसे नाम मेरा आनन्दी है। आपको जो भी अच्छा लगे, कह लें।”

“आनन्दी, नाम तो बहुत अच्छा है। मेरी एक मौसी हैं—उनका भी यही नाम है।”

“जी हां, नाम तो अच्छा है, मां-बाप ने बहुत सोच-समझकर रखा है। जीवन में न सही, नाम में तो आनन्द है ही।” उन्होंने कहा और हंस दीं। इतनी बड़ी बात के साथ यह हंसी बड़ी बेलुकी लगी।

मैंने कहा, “चलिए, आप नाम तो सार्वक कर रही हैं। हमेशा खुश

रहती हैं।”

“खुश रहे बिना चारा ही क्या है? अपने सारे दुःख ओढ़कर आपके घर जाऊँ, तो आप मुझे गेट से ही विदा कर दें। इसलिए अपने राम तो मस्त रहते हैं।” उन्होंने कहा और उसी शाही अन्दाज़ से अपना बैग कंधे पर टागकर नमस्ते की ओर चल दी।

पता नहीं लोग इतने मस्त कैसे रह लेते हैं? यह औरत अपनी खड़-खड़िया साइकिल बरामदे से टिकाकर जब भी घर में दाखिल होती है तो एक मुस्कान के साथ। उसके चेहरे की रंगत बतलाती है कि वह दिन-भर धूप में यहा-वहा घूमती रही है पर शकान का खरा-सा चिह्न भी उसके व्यवहार में नहीं होता।

वही ताजादम पिलखिलाहट, वही बच्चों का-सा उत्साह। यो घर-घर द्यूशनस करने के पीछे भी कोई मजबूरी रही होगी। लेकिन इस बात को भी वह अपने 'फिकर नॉट' अन्दाज़ में ही बर्मान करती। कहती, “ये सप्ती-मेटरी वाले विद्यार्थी मुझे बहुत अच्छे लगते हैं। अगर सबके सब पान होने लगे, तो मेरा क्या हो। स्कूल में अपने राम को हर साल अप्रैल में छुट्टी मिल जाती है।”

“आपके हस्बैंड क्या करते हैं?” एक बार मैंने उत्सुकतावश पूछ ही लिया था।

“क्या करेंगे, बस राज करते हैं।” उसी लहजे में उत्तर मिला था। समझ गई थी, कि बहुत छोटी-सी पोस्ट पर होंगे। तभी न बेचारी इतनी परेशानी उठा रही है। और पता नहीं इतनी परेशानी के बावजूद बेचारी कैसे इतनी खुश रह लेती है। चेहरे पर कभी कोई शिकन नहीं, परिस्थिति के लिए मन में कोई कड़वाहट नहीं।

और एक मैं हूँ, मुझे तो लगता है जैसे सप्ताह में मुझमें ज्यादा दुःखी प्राणी कोई और है ही नहीं। नौकरों की एक बटालियन पीछे भूट जाने का दुःख हमेशा सालता रहता है। ऊपर से मकान इतना छोटा मिला हुआ है कि लगता है चारों ओर से मुझे लीलने को ही दौड़ा आ रहा है। शिकायत

क़रो तो यह कह देते हैं कुछ सामान कम कर दो । सुनते ही मुझे तो रोना आ जाता है । इतनी हसरत से जमाई हुई गृहस्थी है मेरी; कौन-सी चीज़ फालतू है जो उठाकर फेंक दूँ ।

नई परिस्थितियों से समझौता करते-करते इतनी पस्त हो गई मैं कि एक दिन बुखार ही हो आया । यह तो हस्व मामूल दौरे पर ही थे । किसी तरह चपरासी से कच्ची-पक्की रोटियां सिकवाकर वच्चों को खाना दिया और पड़ रही । इतना गुस्सा आ रहा था इनपर—एक तो ऐसी सड़ी-सी जगह में लाकर पटक दिया, ऊपर से यह भी नहीं, कि ढंग का कोई नौकर ही ढूँढ़कर दिया होता ।

मिसेज़ आचार्य उस दिन ठीक वेडरूम के दरवाज़े पर ही आकर खड़ी हो गई, “वेबी ने बताया कि आपकी तबीयत ठीक नहीं है ।”

और कोई दिन होता तो मुझे इनकी यह हरकत शायद अच्छी न लगती । पर उस दिन मैं तरस गई थी, कि कोई आकर मेरा हाल पूछे ।

“आइए न !” मैंने उठकर उनके लिए जगह बनाते हुए कहा ।

पर वह पलंग पर नहीं बैठी । ड्रेसिंग टेबल वाला स्टूल खींचकर उसपर बैठती हुई धीरे से बोली :

“साहब शायद यहां नहीं हैं ?”

वस, मुझे तो वहाना मिल गया । पता नहीं कितनी देर तक मैं बड़-बड़ाती रही । उस समय यह भी भान नहीं रहा कि इतनी सारी बातें हर किसीके सामने करनी भी चाहिए या नहीं । अपना ज्वार खत्म होते-होते मैंने अनुभव किया कि इस बीच उनकी आंखें बराबर मुस्कराती रही हैं । शायद मेरी सारी बकवास को उन्होंने पूनम और पुनीत की नोंक-झोंक से ज्यादा महत्त्व नहीं दिया था । इसका अहसास होते ही एकदम मुंह फुलाकर चुप हो गई मैं ।

मेरे चुप होते ही वह अपने हमेशा वाले अन्दाज़ में बोली, “आप बीमार हैं न, इसीलिए इतनी परेशान हो रही हैं । नहीं तो, सच बात तो यह

है कि मदं बाहर रहते ही अच्छे लगते हैं। घर सीटने में देर-तबेर हो जाए तो गुस्सा तो जरूर आता है, लेकिन ये लोग घर में रहें न, तो परेशान कर डालते हैं। ठीक कह रही हूँ न !”

और उस प्रश्न पर मुझे एकदम हंसी आ गई। अपनी पहली वाली कोफ्त भुलकर मैं इनकी तानाशाही के किस्से लेकर बैठ गई, “बाम रे, घर में रहते हैं तो सबकी अच्छी परेड हो जाती है। ये कितने कैसी फैंनी हैं? यह बाॅश वेस्तिन कितना गन्दा हो रहा है? ये जाले कब ने नहीं निकाले गए? यह निर्दिग घर-भर में क्यों घूम रही है—तब तो सचमुच ऐसा लगता है कि ये महीने में दस दिन बाहर रहते हैं तो बीस दिन रहा करें।”

शाम होते-होते मेरा गुस्सा उतर गया था, और बुद्धार भी।

कुछ लोग होते ही ऐसे हैं कि उनके साथ आदमी अपनी नारों परेशानियां कुछ समय को भूल जाता है। यह बात चाहे मैं उनके मानने स्वीकार न करूं, लेकिन यह सच है कि मिसेज आचार्य से बात करने के बाद बड़ी से बड़ी समस्या भी छोटी-सी नजर आने लगती थी। उनको दुग्-मिजाजी की जैसे मुझे छूत लग जाती थी। (उमका अगर बहुत देर तक नहीं रहता था, सो बात अलग है।)

जिन दिन पुनीत की टी० सी० और प्रोग्रेस कांड टाक से मिले थे उन दिन मैं इसी तरह भायूस बनी गुमसुम बैठी हुई थी। यही अन्तहार या डि कब पाच बजे और यह घर आए। आज लड़ाई होना निश्चित था। उन्हा मना किया था मैंने, ट्रांसफर रुकवा नहीं सकते तो छुट्टी मांगने लगे हैं। आप चले जाएंगे तो डिस्टर्ब हो जाएगा बेबारा। पर दूरी की अन्तर्-अन्त की करके रहे। सरकार के बफादार नौकर जो रहेंगे।

घर में बैठना असह्य हो गया तो मैं बाहर जाकर बस में सवार हो गई। ठीक पाच बजे मिसेज आचार्य की घर-दरिदा नार्नर-रुट के अन्तर्-दार्निन हुई।

“अरे! तबोयत तो ठीक है न आदमी? केहाई रंज-रंज-रंज-रंज था

रहा है आज ?” उनकी तेज़ निगाहों ने आते ही मेरा परीक्षण कर डाला।

“मैं वताऊँ आण्टी, भैया का रिज़ल्ट आया है आज।” हमारी चुन-मुनिया को बीच में बोले बिना चैन कहाँ।

“भैया का रिज़ल्ट आया है ! पास तो हो गए हैं न !” उन्होंने सशक्त स्वर में पूछा।

“पास तो हो गया है। ८१% मार्क्स हैं।” मैंने मरी-सी आवाज़ में कहा।

“अरे वाह, तब तो मिठाई खिलाइए। आपकी शक्ल देखकर तो मैं डर गई थी। इतना अच्छा तो रिज़ल्ट है।”

“क्या खाक अच्छा है। क्लास में थर्ड आया है।” मेरी आवाज़ ऐसी थी, कि वस रो ही पड़ूंगी।

“तो उससे क्या फर्क पड़ता है। मार्क्स तो कितने अच्छे हैं। आप तो फौरन मिठाई मंगवाइए। और पुनीत है कहाँ !”

“भैया तो सो रहे हैं दिन-भर।” पूनम ने बताया।

“हाय बेचारा, आपको उदास देखकर नर्वस हो गया होगा। मैं तो बहनजी, लड़कियों के पचपन प्रतिशत नम्बर भी आ जाते हैं तो खूब शावाशी देती हूँ। अरे, हमसे तो अच्छी है। यहां तो हमेशा जनता क्लास ही आती रही है। वस, फेल कभी नहीं हुए। खींच-खींचकर गाड़ी बी०ए० तक पहुंचा ही दी। वही अब काम आ रहा है।”

और आधा घंटे वाद चाय छानते हुए मैं इनसे कह रही थी, “पुनीत का रिज़ल्ट आया है आज। इक्यासी पसेंट मार्क्स हैं।”

“और रैंक ?”

“रैंक तो खैर थर्ड आया है। पर उससे क्या फर्क पड़ता है। मार्क्स तो देखिए न, कितने शानदार हैं। अपने तो पचपन प्रतिशत से आगे कभी बढ़े ही नहीं।”

वाद में स्वयं मुझे ही आश्चर्य हुआ, कितने सहज भाव से कह गई थी





आत्मकेन्द्रित होने की भी सीमा होती है और मैंने शायद उस सीमा को पार कर लिया था। क्योंकि लगातार एक हफ्ते तक जब मिसेज़ आचार्य नहीं आईं तब भी सिर्फ यही चिन्ता बनी रही कि बच्चों के टर्मिनल्स सिर पर हैं, कहीं फेल न हो जाएं। यह कभी सोचा ही नहीं कि उनकी अपनी भी समस्या हो सकती है कोई। नहीं तो इतनी रेग्यूलर रहने वाली वह इतने दिन तक घर न बैठतीं।

साहब बहादुर भी एक दिन बोले, “दिन-भर भुनभुनाती रहती हो। किसी दिन हरीराम को घर भेजकर पता ही करवा लेतीं।”

“घर का पता यहां किसके पास है?” मैंने मुंह फुलाकर कहा।

“मेरे पास है। आज गाड़ी नहीं ले जाऊंगा। तुम शाम को खुद ही उनके यहां चली जाना।”

“मैं खुद! अरे वाह!”

“सच कह रहा हूं कुमुद। दरअसल वह बड़ी विचित्र परिस्थिति में फंस गई हैं। उनकी बड़ी बेटी किसीके साथ भाग गई है। शायद हम उनकी कुछ मदद कर सकें। कम से कम पूछ तो लें ही।”

“आपको कैसे पता चला?”

“कल दफ्तर में बात हो रही थी। वैसे ४-५ रोज पहले पेपर में भी पढ़ा था। पर तब यह पता नहीं था कि यह वीणा आचार्य उन्हींकी लड़की है।”

मैं चुप ही रही, क्योंकि मैं पेपर सिर्फ सिनेमा के विज्ञापनों के लिए ही देखती हूं। हां, पहले से पता होता तो इस खबर को जरूर पढ़ती।

वहां जाने की मेरी ज़रा भी इच्छा नहीं थी पर इनके आगे मेरी एक न चली। पूरे रास्ते मेरा मन धक्-धक् करता रहा है कि वहां जाकर आखिर कहूंगी क्या? ऐसा लग रहा था जैसे किसीके यहां मातमपुरसी पर जा रही हूं। यह प्रसंग तो उससे भी कठिन था। कहीं वह यह न समझ लें कि मैं तमाशा देखने आ गई हूं।

पता एकदम ठीक था, घर ढूंढने में ज्यादा दिक्कत नहीं हुई। लेकिन

गाड़ी के रुकते ही आसपास की खिड़कियों में इतनी सारी आंखें टंग गई थीं कि मैं नव्वंस हो उठी। बन्द दरवाजे पर धीरे से दस्तक देते हुए मैंने मोहन से कहा, "तुम गाड़ी उधर कहीं चौड़े में पार्क कर लेना। यहाँ तो सारा रास्ता ही घिर गया है।"

"अरे, आप हैं।" दरवाजा खोलते ही मिसेज आचार्य ने पूछा और वह मुझे हाथ पकड़कर भीतर ले गई। शायद बहुत देर बाहर खड़े रहना उन्हें भी अच्छा नहीं लग रहा था। भीतर जाते ही उन्होंने दरवाजा बन्द कर लिया और एक अंधेरा-सा कमरे में भर गया। किसी तरह मिसेज आचार्य के पीछे-पीछे चलती हुई मैं दूसरे कमरे में पहुँची, जो शायद रमोईघर था। दीवार से टेक लगाए पटरे पर बैठी एक दस-बारह साल की लड़की 'चन्दा मामा' पढ़ रही थी।

"मीनू, उठ तों", उन्होंने कहा और पटरा मेरे आगे बिछाते हुए कहा—  
"बैठिए न।"

"मीनू S" बाहर के कमरे से एक छरखराती आवाज आई।

"क्या है?" बेजारी से मीनू ने कहा।

"कौन आया है?"

"मम्मा की सहेली हैं।"

"मोटर में कौन आया है?"

"कहा तो मम्मा की सहेली है।" मीनू ने कहा और धीरे से बीच वाला दरवाजा उठका लिया। आवाज अब भी आ रही थी पर अब-बोझ नहीं हो रहा था। "मीनू, चाय बना छटपट।" मिसेज आचार्य ने कहा। दरवाजा बन्द होते ही उनके चेहरे का तनाव कम हो गया था।

"चाय-बाय रहने दीजिए—दरअसल मैं देखने आई थी, कहीं आप बीमार तो नहीं?" मैं सफाई से झूठ बोल गई पर इतना कहते-कहते भी मुझे पसीना छूट गया।

उन्होंने कुछ जवाब नहीं दिया। वे कप-प्लेटें निकालती रहीं, मीनू को अच्छी चाय बनाने के निर्देश देती रहीं, उसे स्टोव जलाने में मदद करती

रहीं। हाथ धोकर जब वह मेरे पास आकर बैठीं तो उन्होंने कोई दूसरा ही विषय छेड़ दिया था। मुझे उस वार्तालाप में ज़रा भी मज़ा नहीं आ रहा था। उल्टे कोपत हो रही थी। इनपर तो इतना गुस्सा आ रहा था—वस भेज दिया संवेदना प्रकट करने के लिए। अरे, यहां किसीको कोई मलाल भी तो हो पहले। मैंने यह अपेक्षा भी नहीं की थी कि वह मेरे गले में बांहें डालकर रो पड़ेंगी। पर इतनी बड़ी बात हो जाने पर आदमी कम से कम उदास तो होता है। यहां तो वस।

“मम्मा, पापा को दे आऊं?” हमारे सामने दो कप रखते हुए मीनू ने होले से पूछा।

“दे दे।” उनकी आवाज़ में हिकारत स्पष्ट थी।

“पापा, उठिए चाय ले लीजिए।” दूसरे कमरे से मीनू की आवाज़ आई। उत्तर में नहीं सुन सकी क्योंकि मिसेज़ आचार्य ने उठकर धीरे से बीच वाला दरवाज़ा फिर लुढ़का लिया था।

“बीमार हैं?” मैंने धीरे से पूछा।

“हां।”

“कब से?”

“बरसों से।” इस अप्रत्याशित जवाब पर मैं चौंककर रह गई। कमरे में घुसते ही जो एक भभका-सा मेरी नाक में घुसा था उसका रहस्य अब खुला। अब उस घुटन-भरे वातावरण में बैठना मेरे लिए असह्य हो गया। किसी तरह चाय पान समाप्त करके मैं उठ खड़ी हुई, “चलूंगी मैं अब, घर पर वच्चे घबरा रहे होंगे। हरीराम भी पता नहीं अब तक आया भी कि नहीं।”

‘उन्होंने कुछ देर और बैठने का अनुरोध नहीं किया। सुपारी कतरती हुई बोलीं, “चलिए, आपको गाड़ी तक छोड़ आऊं।”

“कौन है?” बाहर वाले कमरे में पैर रखते ही प्रश्न हुआ।

“मैं हूं। बहनजी को सड़क तक छोड़ने जा रही हूं।” उन्होंने जवाब दिया और मुझे लेकर सड़क पर आ गईं। मीनू हमलोगों के पीछे दरवाज़े

तक आई थी। "मम्मा, जल्दी आना" उसने कातर स्वर में कहा।

"भीनू!" उसी कंकण स्वर में अन्दर से, बुलाहट हुई। "मेरी स्नफ की डिब्बिया कहा है?"

"मिसेज आचार्य!" कुछ दूर तक चलने के बाद मैंने कहा "आपके मिस्टर को आइसाइट क्या बहुत खराब है?"

"बहुत ज्यादा।"

"क्या गुरु से ही है या..."

"गुरु से तो नहीं थी। भाग्य की यह मेहरवानी तो इन लड़कियों के जन्म के बाद हुई है।"

"कोई एक्सीडेंट हुआ था?"

"हां, एक्सीडेंट ही समझिए। आनन्द कैमिकल्स में अच्छी नौकरी थी। एक दिन लेबोरेटरी में पता नहीं कैसा विस्फोट हो गया? चार-पांच लोग घायल हो गए। इनकी तो आंखें ही जाती रही।"

"कम्पनी ने मुआवजा तो दिया होगा?"

"दिया था न! उसीके सहारे तो ट्रेनिंग की। उसीकी कृपा से तो यह दो कमरों का घर बच रहा। नहीं तो इसे भी बेचना पड़ता।"

"आपके हस्बैंड अब कुछ नहीं करते?"

"करते हैं! मेरी चौकीदारी करते हैं।"

"नहीं, मेरा मतलब था, आजकल काफी व्यवसाय चल पड़े है।" मैंने बिना बजह सकुचाते हुए कहा।

"मैं समझ गई आपका मतलब, लेकिन बहनजी, काम तो करने वाले के लिए होते हैं। और कुछ नहीं तो घर बैठे द्यूशन ही कर सकते थे। एम० एस०-सी० पास हैं। पर आंखें गईं तो नौकरी छूट गई। नौकरी छूट गई तो दिल टूट गया—अपने पास तो दिल है ही नहीं। टूटने का सवाल ही नहीं उठता। ग्यारह साल से इस गृहस्थी की गाड़ी खींच रही हूँ मैं। सौता का बनवास तो चौदह साल में पूरा हो गया था। मुझे कितने दिन भ्रमरना है, ईश्वर ही जानता है।"



